॥ धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है॥

आत्मधर्म

वर्ष तीसरा
अंक चौथा

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

द्वि. श्रावण
२४७३

दो नयों का फल

''शुद्धनय कतकफल के समान है, इसलिये जो शुद्धनय का आश्रय लेते हैं, वे ही सम्यक् अवलोकन करने के कारण सम्यग्दृष्टि हैं किन्तु अन्य (जो अशुद्धनय का आश्रय लेते हैं) सम्यग्दृष्टि नहीं हैं, इसलिये आत्मा को कर्म से भिन्न देखनेवालों को व्यवहारनय का अनुसरण नहीं करना चाहिये।'' *(श्री अमृतचंद्राचार्यदेव कृत टीका, समयसार गाथा ११)*

''यहाँ यह समझना चाहिये कि जिनवाणी स्याद्वादरूप है। वह प्रयोजनवश नय को मुख्य—गौण करके कहती है। प्राणियों को भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादि काल से है और जिनवाणी में व्यवहार का उपदेश शुद्धनय का हस्तावलंब जानकर बहुत किया है; किन्तु इसका फल संसार ही है। शुद्धनय का पक्ष तो कभी नहीं आया और उसका उपदेश भी विरल है–क्वचित् कदाचित् मिलता है। इसलिये उपकारी श्रीगुरु ने शुद्धनय के ग्रहण का फल मोक्ष है, यह जानकर उसका उपदेश मुख्यता से दिया है कि—'शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है, इसका आश्रय लेने से सम्यग्दृष्टि हुआ जा सकता है, इसे जाने बिना जब तक जीव व्यवहारनय में मग्न है, तब तक आत्मा का ज्ञान–श्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व नहीं हो सकता।' यह आशय समझना चाहिये।''

(समयसार की ११ वीं गाथा का भावार्थ)

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

शाश्वत सुख का मार्ग २८ दर्शक मासिक पत्र

छुटक अंक पांच आना

आ त्म ध र्म का र्या ल य — मो टा आं क ड़ि या — का ठि या वा ड़

मुक्त होने का उपाय

[समयसार गाथा २९५ के प्रवचन से]

प्रश्न—पर वस्तुयें आत्मा से भिन्न हैं, यह जानने से क्या लाभ है ?

उत्तर—मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ और पर वस्तुयें मुझ से भिन्न हैं; अर्थात् मुझ में पर को सुखी-दुःखी करने की शक्ति तीन काल और तीन लोक में भी नहीं है, तथा मेरा सुख-दुःख परवस्तु के आधीन नहीं है। ऐसी प्रतीति होने पर यह खयाल में आ जाता है कि आत्मस्वभाव, पुण्य-पाप रहित है; क्यों कि पुण्य-पाप के भाव परलक्ष से ही होते हैं। जहाँ स्वयं पर संबंध का ही निषेध कर दिया, वहाँ परलक्ष से होनेवाले भावों का भी निषेध हो जाता है। अर्थात् मात्र ज्ञानस्वभाव ही रह जाता है। पर से भिन्न का अर्थ है अपने ज्ञानस्वरूप में परिपूर्ण। अपने ज्ञानस्वभाव के भान के बिना यथार्थतया पर से और विकार से पृथक्त्व नहीं माना जा सकता।

स्व और पर का कोई संबंध नहीं है—वह निश्चित होने पर; तथा यह जानकर कि कोई भी परोन्मुख शुभाशुभ वृत्ति मेरा स्वरूप नहीं है—एकत्व स्वभाव में स्थिरता करनी चाहिये। यही बंधन को छोड़कर मुक्त होने का उपाय है। ✦

शुद्धभाव और शुभभाव

(समयसार-मोक्ष अधिकार के प्रवचन से)

—गाथा २९६—

सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को पहचान कर मानने से मिथ्यात्व मंद हो जाता है किन्तु मंद मिथ्यात्व भी बंध भाव है। परलक्ष्य से बंध भाव में मंदता की, परन्तु निजलक्ष के बिना बंध भाव से छूटकर मुक्ति मार्ग में किंचित्मात्र भी प्रवेश नहीं होता। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का लक्ष उस अशुभ बंध को आंशिक रूप में रोकता है किन्तु वह शुभ बंध को नहीं रोकता और आत्मस्वभाव की सच्ची पहिचान तो अशुभ तथा शुभ दोनों प्रकार के बंधन भाव को रोकती है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा की सच्ची पहिचान ही धर्म है और शुभराग भी बंधन है।

प्रश्न—सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के लक्ष से शुभराग होता है और शुभराग भी बंधन ही है तथा वह राग आत्मा को हानि पहुँचाता है; यदि यह कथन ठीक है तो क्या अब हम देव, गुरु, शास्त्र का लक्ष न करें ?

उत्तर—(१) हे भाई! यदि तुझे आत्मा के अबंध स्वभाव की प्रतीति हुई हो और शुभ तथा

शुद्धभाव के बीच के अन्तर की पहिचान करके शुभभाव को छेदकर शुद्धभाव में स्थिर हो सकता हो तो तुझे शुभभाव अथवा देव, गुरु, शास्त्र का लक्ष करने की आवश्यकता नहीं है।

(२) यदि तुझे शुभ और शुद्ध के अंतर की प्रतीत हो किन्तु शुद्धस्वभाव में स्थिरता न रख सकता हो तो उस समय अशुभभाव से बचने के लिये शुभभाव आये बिना नहीं रहेगा और शुभभाव के समय मुख्यतया देव, गुरु, शास्त्र की ओर लक्ष हो जाता है, क्योंकि आत्मा के लक्ष से शुभभाव नहीं होता; किन्तु ध्यान रहे कि शुभराग मात्र अशुभ से बचने के लिये ही होता है; अतः उसे छोड़कर शुद्धभाव में स्थिर रहने की भावना करना।

(३) यदि तुझे शुभ और शुद्ध के अन्तर की प्रतीत न हो तो पहले उसे पहचानने का प्रयत्न करना। जब तक आत्मप्रतीति नहीं होती, तब तक शुभ-अशुभभाव अवश्य होते हैं। ऐसी स्थिति में यदि तू शुभराग छोड़ देगा तो तेरे अशुभराग होगा। क्योंकि शुभभावहीन आत्मा के शुद्धस्वभाव की तो तुझे खबर ही नहीं है। इसलिये प्रथम भूमिका में असत् निमित्तों का लक्ष छोड़कर सत् निमित्तों का लक्ष मुमुक्षु जीव करता है और उसे शुभराग भी होता है; परन्तु श्रद्धा में उस शुभराग को धर्म नहीं किन्तु बंधन मानना चाहिये; और जो शुभभाव से रहित आत्मा का स्वरूप है, उसकी पहचान करना चाहिये। देव, गुरु, शास्त्र की ऊपर से लक्ष को उठाकर अपने भाव से निज को जो यथार्थ समझ होती है, वह धर्म का कारण और जो राग है, वह बंध का कारण है। इस प्रकार ज्ञान और राग के बीच भेदज्ञान करना चाहिये। ऐसा भेदज्ञान करने के बाद जब स्वयं ज्ञान में एकाग्र होता है, तब शुभराग और देव, गुरु, शास्त्र का लक्ष छूट जाता है।

इस प्रकार तीनों भूमिकाओं की स्वरूप समझ कर भूमिका के अनुसार प्रवृत्ति करनी चाहिये।

क्रमबद्धपर्याय और व्यवहार

पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रवचन से

वस्तु की पर्याय क्रमबद्ध ही होती है, क्रमबद्धपर्याय में परिवर्तन करने के लिये कोई समर्थ नहीं है।

प्रश्न—जब कि वस्तु की पर्याय क्रमबद्ध ही है, तब पुरुषार्थ करने की क्या आवश्यकता रह जाती है ?

उत्तर—क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा किसने की ? और क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा किसके द्वारा की जाती है ? क्रमबद्ध की श्रद्धा करनेवाला जीव, समस्त पदार्थों से उदासीन हो गया और उसने पर का लक्ष्य छोड़कर ज्ञान को निज में एकाग्र किया। अब स्व वस्तु में भी क्रमबद्धपर्याय ही है। वह निज की क्रमबद्धपर्याय कहाँ से आती है ? वह पर्याय में से नहीं आती किन्तु वस्तु में से आती है, इसलिये वस्तुदृष्टि हुई। वस्तुदृष्टि हुये बिना क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा नहीं हो सकती।

क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा होने पर, पर से तो वह उदास ही हो गया–मात्र ज्ञाता ही रह गया, अब तो निज की क्रमबद्धपर्याय होती है, वह स्वभाव में से ही आती है और स्वभाव में विकार नहीं है, इसलिये विकार मेरा स्वरूप नहीं है; इस प्रकार जिसे विकाररहित वस्तुस्वभाव की श्रद्धा हुई, उसी के क्रमबद्धपर्याय की बात जमती है और उसी में अनंत पुरुषार्थ है।

एक क्रमबद्धपर्याय के सिद्धांत में से ही आत्मा संपूर्ण सिद्ध भगवान हो जाता है। एक क्रमबद्धपर्याय के सिद्धांत को जानने पर उस में सब आ जाता है। 'क्रमबद्ध' कहने पर अनेक पर्याय लक्ष्य में आ जाती है अर्थात् वह वस्तु समस्त पर्यायों का पिंड है, उसी में से पर्याय प्रगट होती है; ऐसी प्रतीति करने से परपदार्थ पर, विकार पर अथवा पर्याय पर दृष्टि नहीं रही; किन्तु वस्तु पर गई। वस्तु दृष्टि में अनंत वीर्य आता है और वही वीर्य आगे बढ़कर पूर्ण होने पर केवलज्ञान होता है।

क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा करने से कितना वीर्य आ गया। जगत् के जितने पदार्थ हैं, उन सभी की पर्याय क्रमबद्ध होती है। उन में से किसी भी पदार्थ का मैं कुछ नहीं करता और मेरी पर्याय मेरे द्रव्य में से क्रमबद्ध होती है, इसलिये मेरे किसी परद्रव्य का आधार नहीं है; बस! यह भेदविज्ञान प्रगट हो गया है।

मेरी पर्याय का आधार द्रव्य है, इस प्रकार जिसके द्रव्यदृष्टि हो गई है, उसने (१) पर से अपने को भिन्न जाना है (२) और यह जाना है कि विकार से मेरी पर्याय प्रगट नहीं होती तथा

(३) स्वभावदृष्टि के होने पर अपूर्ण दशा जितना भी मैं नहीं हूँ; इस प्रकार पूर्ण स्वभाव का ही बल आ गया। पूर्ण स्वभाव के बल से अल्प काल में केवलज्ञान अवश्य होता है। इसलिये क्रमबद्ध पर्याय की प्रतीति में केवलज्ञान को प्राप्त करने का पुरुषार्थ समाया है। यह बात स्वभाव की है। स्वभाव से ही यह बात जमती है, कुतर्क से नहीं जम सकती। यदि स्वभाव के परिणमन में यह बात न जमे और न रुचे तो समझना चाहिये कि निज की दृढ़ता की ओर पुरुषार्थ उन्मुख नहीं हुआ; जबकि पुरुषार्थ निज की दृढ़ता की ओर नहीं झुका है, तब वह कहीं पर की रुचि में अटका हुआ है अर्थात् उसे भव की शंका बनी ही रहती है। स्वभाव की क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति में मोक्ष का निःसंदेह विश्वास हो जाता है, क्योंकि स्वभाव के परिणमन से ही मोक्ष होता है।

प्रश्न—क्रमबद्धपर्याय में भी बीच में व्रत-तप का शुभविकल्परूप व्यवहार तो आता ही है न?

उत्तर—जिसे क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति है, उसकी दृष्टि व्रत पर नहीं होती किन्तु द्रव्य पर होती है। यद्यपि व्रत भी क्रमबद्धपर्याय ही है, इसलिये ज्ञानी उसे भी ज्ञातारूप में जानता है परंतु उसकी भावना नहीं करता। बीच में जो व्रत आता हे, उसकी जिसे भावना है, उसे स्वरूप की भावना नहीं है। बीच में जो राग आता है, उसे वह जानता तो है किन्तु भावना, स्वरूप की ही होती है। व्रत का राग तो आस्रव है। जो व्रत की भावना करता है, वह आस्रव को अच्छा मानता है अर्थात् वह संसार को ही अच्छा मानता है; वह बंध और आत्मा को भिन्न जानता ही नहीं। जो आत्मा और बंध को भिन्न जानता है, उसके बंध भाव की भावना कदापि नहीं होती।

क्रमबद्धपर्याय की श्रद्धा में प्रत्येक द्रव्य की स्वतंत्रता सिद्ध होती है। एक द्रव्य दूसरे का कुछ करता है अथवा पुण्य से आत्मा को धर्म होता है, यह बात सत्य धर्म की परिधि से बाहर है, वह सत्य की मर्यादा में नहीं आती।

वस्तु की क्रमबद्धपर्याय होते समय निमित्त की उपस्थिति होती है किन्तु वस्तु की पर्याय में वह किंचित्मात्र सहायक नहीं है। वस्तु दृष्टि की प्रतीति में क्रमबद्ध शुद्धपर्याय प्रगट होने पर बीच में जो विकल्परूप व्यवहार आता है, वह भी शुद्धपर्याय के लिये सहायक नहीं है, इसलिये उस व्यवहार का खेद होना चाहिये। श्री अमृतचंद्राचार्य समयसार कलश में कहते हैं कि—

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपिप्राक्पदव्यामिहनिहितपदानांहंत हस्तावलंबः।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं परं विरहितमंतः पश्यतां नैव किंचित्॥५॥

अर्थ—जिनने इस पहली पदवी में (जब तक शुद्धस्वरूप की प्राप्ति न हुई हो तब तक) अपना पहला कदम रखा है, उस पुरुष के लिये यद्यपि व्यवहारनय को हस्तावलंबनरूप कहना पड़ा है, जो कि खेद की बात है, तथापि जो पुरुष चैतन्य-चमत्कारमात्र परद्रव्यभावों से रहित (शुद्धनय के विषयभूत) परम अर्थ को अंतरंग में देखते हैं, उसकी श्रद्धा करते हैं तथा बिल्कुल लीन होकर चारित्रभाव को प्राप्त होते हैं, उन्हें यह व्यवहारनय कैसे भी प्रयोजनभूत नहीं है।

व्यवहारनय बीच में आ जाता है; उसे 'हंत' कहकर तिरस्कृत किया है। व्यवहार पर द्वेष नहीं है किन्तु उस के प्रति उपेक्षा है। उस ओर दृष्टि का बल नहीं। दृष्टि निषेध करती है; ज्ञान उसे जानता है। बीच में व्यवहार आ जाता है, वह भी क्रमबद्ध ही है। पूर्ण होते-होते बीच में साधकदशा में व्यवहार न आये तो क्या पूर्ण हो जाने पर व्यवहार का विकल्प उठेगा?

यह तो इसकी स्थिति ही ऐसी है कि साधकदशा में बीच में बाधकरूप व्यवहार आता ही है किन्तु यदि जीव उस व्यवहार में अटक जाये तो वह साधकदशा में आगे नहीं बढ़ सकता प्रत्युत मिथ्यादृष्टि हो जायगा। व्यवहार भले आये, उसके अस्तित्व से इनकार नहीं किया जा सकता किन्तु वह बीच में आ जाता है, इसी का खेद है। क्रमबद्धपर्याय की प्रतीति का जोर द्रव्य पर ही है, पर्याय पर उसका जोर नहीं है। द्रव्य की ओर के बल से भंग भेदरूप व्यवहार का निषेध है।

कुन्दकुन्द भगवान दृढ़तापूर्वक सचेत करते हैं कि हे भाई! ध्यान रखना। स्वभाव की साधकदशा में बीच में राग भले आ जाय, मुनिदशा में भी विकल्प भले उठे किन्तु उसे साधन मत मान बैठना, उसकी चाह-उमंग मत करना; वह बाधक है; उसे बाधकरूप जान कर छोड़ देना और निश्चयस्वभाव के बल से आगे कदम बढ़ाना। इस प्रकार निश्चयस्वभाव की दृष्टि के बल से ही तेरी पर्याय क्रमशः शुद्ध होती जायगी।

इस क्रमबद्धपर्याय के सिद्धांत में अध्यात्मस्वरूप की बात है। इसे समझन में जिसे उकताहट मालूम होती है, उसे आत्मा के स्वरूप प्रति अरुचि होती है। स्वरूप को समझने में जो उकताहट आ जाती है, उसके कारण उसे राग की बात सरल मालूम होने लगती है। अध्यात्मपद्धति में राग और विकल्प की बात व्यवहार से की हो तो उसे सुनने पर जिसे उत्साह होता है और अध्यात्मस्वरूप की बात समझने में जिसे उत्साह नहीं होता, उसे आत्मा के परमार्थस्वरूप के प्रति उकताहट है और स्वरूप के प्रति उकताहट का होना ही मिथ्यात्व है।

आचार्यदेव कहते हैं कि याद रहे! बीच में शुभराग आता है, यदि उसके प्रति उत्साहित हुये

तो राग में और मिथ्यात्व में फंस जाओगे। बीच में जो राग आये, उसके प्रति उत्साहित मत होना किन्तु उसे ज्ञातारूप में जानकर छोड़ देना और ज्ञान को ही ग्रहण करना। इसीलिये समयसार की १९६ वीं गाथा में कहा है, प्रज्ञा के द्वारा ही (सम्यग्ज्ञान से ही) आत्मा का ग्रहण होता है और प्रज्ञा के द्वारा ही बंध का नाश किया जाता है।

सूचना :— स्व. पंडित दीपचंदजी शाह कासलीवाल कृत 'अनुभव प्रकाश' नामक आध्यात्मिक ग्रंथ की ७०० प्रतियां श्री मगनमल हीरालाल पाटनी दिगम्बर जैन पारमार्थिक ट्रस्ट मारोठ (मारवाड) के ट्रस्टियों द्वारा हिंदी आत्मधर्म मासिक पत्र के ग्राहकों को सत्धर्म प्रभावनार्थ भेजने के लिये मिली हैं।

जिन ग्राहक बंधुओं को इस ग्रंथ की स्वाध्याय के लिये जरूरत हों, वे तुरन्त ही नीचे के पते पर अपना ग्राहक नंबर लिख के चिट्ठी भेजें। बिना मंगाये यह ग्रंथ नहीं भेजा जायगा।

आत्मधर्म कार्यालय-मोटा आंकडिया-काठियावाड़

श्रुत और ज्ञान

पूज्य श्री कानजी स्वामी का व्याख्यान
प्रवचनसार गाथा ३३-३४

इस अधिकार में समस्त परपदार्थों को जानने की प्रधानता से भगवान को 'केवली' नहीं कहा, परन्तु मात्र शुद्ध केवल ज्ञायक आत्मा के ज्ञाता-अनुभवकर्ता होने से 'केवली' कहा है। इसी प्रकार श्रुतज्ञानी भी अपने ज्ञान के द्वारा वैसे ही केवल ज्ञायक आत्मा का अनुभव करते हैं, इसलिये वह भी 'केवली' हैं। यहाँ आत्मानुभव की मुख्यता से कथन करके यह कहा है कि 'जो केवल का अनुभव करता है, सो केवली है।'

आत्मा केवल है-इसका क्या अर्थ है ? शरीरादिक तथा कर्म इत्यादि तो जड़ हैं-भिन्न ही हैं, और जो रागादिक विकार होते हैं, वे भी वास्तव में ज्ञायकभावमय आत्मा से पृथक् हैं। और जो गुण-पर्याय के भेद होते हैं, सो भी वास्तव में आत्मा के स्वरूप में नहीं हैं, इसलिये आत्मा तो मात्र शुद्ध 'केवल' है। ऐसे केवल के अनुभव की अपेक्षा से तो भगवान और मुनि दोनों समान हैं, क्योंकि दोनों के 'केवल' का ही अनुभव है।

केवली और श्रुतकेवली के ज्ञातृत्व में अन्तर है। केवली भगवान ऐसे केवलज्ञान के द्वारा आत्मानुभव करते हैं, जिसमें चैतन्य के समस्त विशेष एक ही साथ प्रवृत्त होते हैं, और श्रुतकेवली ऐसे श्रुतज्ञान के द्वारा केवल-आत्मा का अनुभव करते हैं, जिसमें कुछ चैतन्य के विशेष क्रमशः प्रवर्तमान होते हैं। केवली सूर्यसमान ज्ञान के द्वारा आत्मा का अनुभव करते हैं और श्रुतकेवली दीपक के समान ज्ञान के द्वारा आत्मा का अनुभव करते हैं। दोनों के अनुभव में आनेवाला आत्मा एक ही प्रकार का है, इसलिये ज्ञान की हीनाधिकता का भेद यहाँ गौण है। स्वरूपस्थिरता की अपेक्षा से श्रुतकेवली और केवली में जो तरतमतारूप भेद है, वही मुख्य है। इसलिये स्वरूप स्थिरता की मुख्यता और ज्ञान की गौणता करके आचार्यदेव कहते हैं कि हम अधिक जानने की इच्छा के क्षोभ को मिटाकर स्वरूपस्थिरता में ही निश्चल रहते हैं..... केवलज्ञान के विकल्प को छोड़कर 'केवल' के अनुभव में ही लीन रहते हैं; और यही केवलज्ञान का उपाय है।

स्वरूपस्थिरता की निश्चलता ही केवलज्ञान का उपाय है, परन्तु ज्ञान का अल्पाधिक ज्ञातृत्व केवल का कारण नहीं है। अधिकाधिक जानते-जानते केवलज्ञान नहीं होता, किन्तु निश्चल स्वरूप अनुभव में रहने पर ही केवलज्ञान होता है। मात्र ज्ञायक आत्मा का ज्ञान और श्रद्धान करने के बाद यदि उसमें निश्चलतापूर्वक स्थिर न हुआ जा सके, तब अशुभभाव से रुकने के लिये शुभभाव का अवलम्बन लिया जाता है, किन्तु वास्तव में ज्ञानी उसे अपना स्वरूप नहीं मानता; प्रत्युत वह राग का नाश करके केवलज्ञानरूप होने की भावना करता है। पूर्ण पर्यायस्वरूप केवलज्ञानरूप आत्मा ही स्वयं होता है, कोई राग या विकल्प केवलज्ञानरूप नहीं होते। आत्मा स्वयं ही केवलज्ञानरूप होता है, और उसका उपाय भी आत्मस्वरूप की ही स्थिरता है। सर्वप्रथम शुद्धज्ञायक को श्रद्धा-ज्ञान में लेने के पश्चात् उसी के अनुभव में स्थिरता करना, सो केवलज्ञान प्राप्ति का उपाय है॥३३॥

[गाथा ३४] तेतीसवीं गाथा में ज्ञान को 'श्रुतज्ञान' कहा है। अब इस गाथा में 'श्रुत' शब्द को दूर करके मात्र ज्ञान का वर्णन करते हैं; अर्थात् मात्र ज्ञान में पर की सहायता, प्रभाव अथवा कोई आपत्ति नहीं होती। 'श्रुतज्ञान' के कहने पर उसमें श्रुत (सूत्र) तो निमित्तमात्र है, उपस्थितिरूप है; इसलिये ज्ञान को 'श्रुतज्ञान' कहा जाता है। वास्तव में तो "विशेष के द्वारा सामान्य का अनुभव है" इसलिये सामान्य में से ही विशेष प्रगट होता है। किसी श्रुत की सहायता से अथवा परावलम्बन से ज्ञान प्रगट नहीं होता। 'श्रुतज्ञान' वास्तव में 'श्रुत का ज्ञान' नहीं किन्तु आत्मा का ही ज्ञान है,

इसलिये वास्तव में वह ज्ञान निरुपाधिक ही है—उसके लिये 'श्रुत' तो मात्र उपाधिरूप ही समझना चाहिये।

भगवान केवल का अनुभव करते हैं, इसलिये उन्हें केवली और मुनि को 'श्रुतकेवली' कहा है। उसमें जो 'श्रुत' शब्द विशेष है, उसे दूर करके अर्थात् 'श्रुत' शब्द को अलग कर देने पर मात्र 'ज्ञान' रह जाता है। अर्थात् अनुभव के बल से आचार्यदेव, केवली की और अपनी समानता स्थापित कर देते हैं।

श्रुतज्ञानी को 'श्रुतकेवली' क्यों कहा है; 'केवली' ही क्यों नहीं कहा? क्या श्रुत शब्द से कोई पर की उपाधि लग जाती है या कोई दूसरा अन्तर है? 'श्रुत' शब्द रखने का क्या उपयोग है?

ज्ञानस्वभावी आत्मा का अनुभव करने पर वास्तव में केवली और श्रुतकेवली में कोई अन्तर नहीं रहता... दोनों मात्र ज्ञान की ही ज्ञप्ति के द्वारा आत्मानुभव करते हैं; श्रुतकेवली कहीं 'श्रुत की ज्ञप्ति' से अनुभव नहीं करते, क्योंकि ज्ञप्ति, श्रुत की नहीं किन्तु ज्ञान की ही है....; तत्संबंधी गाथा कहते हैं—

(गाथा ३४)

सूत्तं जिणोवदिट्ठं पोग्गलदव्वप्पेगहिं वयणेहिं।
तंजाणणाहि णा णं सुत्तस्स य जावणा भणिया॥३४॥
पुद्गलस्वरूपी वचन से उपदिष्ट जिन सो सूत्र हैं।
है ज्ञप्ति उनकी ज्ञान, उसको सूत्र की ज्ञप्ती कही॥

अन्वयार्थ—पुद्गल द्रव्यात्मक वचनों के द्वारा जिनेन्द्र भगवान जो उपदेश देते हैं, सो सूत्र हैं, और जो उसकी ज्ञप्ति है, सो ज्ञान है, उसी को सूत्र की ज्ञप्ति (श्रुतज्ञान) कहा है।

''श्रुतज्ञान'' के कहने पर श्रुत का अर्थ सूत्र होता है, और जो सूत्र हैं, सो भगवान का उपदेश है। भगवान ने स्वयं जैसा ज्ञान सम्पादन किया है, वैसा ही उपदेश में आता है—ज्ञान और वाणी का ऐसा सम्बन्ध है। जो भगवान का उपदेश है, सो सूत्र है और वह सूत्र 'स्यात्' पद से चिह्नित है। 'स्यात्' का अर्थ यह है कि जो एक बात की जाती है, वह सभी अपेक्षाओं से वैसी ही नहीं होती किन्तु किसी प्रकार से वह कथन होता है। जैसे—आत्मा नित्य है—ऐसा कहने पर वह ध्रौव्यत्व की अपेक्षा से नित्य है, परन्तु सर्वथा उत्पाद-व्यय की अपेक्षा से भी नित्य नहीं कहा जा सकता। जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसे स्वरूप को लक्ष में लेकर जो कथन किया जाता है, वह निश्चित ही होता

है—अनिश्चित नहीं होता। स्याद्वाद तो वस्तु के सभी पहलुओं से निश्चित निर्णय करता है, वहाँ कोई गड़बड़ घोटाला नहीं रह पाता। धर्म अपने भीतर आत्मभाव से होता है, अन्य परभाव से नहीं होता। इस प्रकार दोनों पहलुओं से धर्म के स्वरूप को (अस्ति-नास्ति के द्वारा) बराबर निश्चित किया जाता है। वस्तु के गुण वस्तु में ही कार्य करते हैं, वे किसी अन्य में कदापि कार्य नहीं कर सकते। गुण की एकता स्व वस्तु है, उसका सम्बन्ध पर के साथ नहीं है। 'स्यात्' का अर्थ अपेक्षा है, उसके अनेक प्रकार हैं। कोई अपेक्षा मात्र बोलने के लिए होती है तो कोई वास्तव में जानने के लिए होती है।

(१) आत्मा अपना कार्य तो वास्तव में करता है किन्तु यह कहना कि आत्मा पर का भी कुछ करता है, सो कथनमात्र है अर्थात् वह कथन करने की अपेक्षा से है।

(२) आत्मा नित्य है और अनित्य भी है, यह कहीं मात्र बोलने की अपेक्षा से नहीं है किन्तु वास्तव में द्रव्य की दृष्टि से वस्तु नित्य है और पर्याय की दृष्टि से अनित्य है; इस प्रकार दोनों पहलु वस्तुस्वरूप में ही है।

(३) यद्यपि पुण्य से धर्म नहीं होता, तथापि यह कहना कि पुण्य से धर्म होता है, सो कथनमात्र है। किन्तु वह किस दृष्टि से कहा गया है, यह समझना चाहिये। 'पुण्य से धर्म नहीं होता' यह जानने के बाद, जब पुण्यरहित स्वरूप में स्थिर नहीं हो सके, तब बीच में पुण्य आ जाता है, किन्तु दृष्टि में उसका निषेध होने से उसे छोड़कर वह वीतराग हो जावेगा—यह ख्याल में रखकर कथंचित् यह कहा जाता है कि पुण्य से धर्म होात है, यह कथनमात्र की एक अपेक्षा है किन्तु पुण्य ही वास्तव में धर्म है, यह मानकर वह कथन नहीं है। बोलने की अपेक्षा भी वस्तु के मूल स्वरूप को जानकर फिर बोली जाती है। इसमें पुण्य का ज्ञान कराया है अर्थात् पुण्य से धर्म होता है, यह कहने पर पुण्य की उपस्थिति और उससे प्रथक् धर्म के स्वरूप का ज्ञान कराया है; इसलिये उस कथन को 'स्यात् कथन' कहा गया है।

ज्ञान में सूत्र का निमित्त है। जब ज्ञान में ज्ञप्ति होती है, तब श्रुत की उपस्थिति का निमित्त होता है; इसलिये उपचार से ज्ञान को 'श्रुतज्ञान' कहा जाता है। यह उपचार किस प्रकार का है? यहाँ कारण में कार्य का उपचार नहीं है किन्तु कार्य के होने के बाद उसमें कारणत्व का उपचार किया गया है। ज्ञानरूपी कार्य के होने के बाद ही सूत्र को कारणत्व का उपचार देकर अर्थात् कार्य में कारण का उपचार करके 'श्रुतज्ञान' कहा है। वास्तव में तो श्रुत और ज्ञान प्रथक् हैं।

ज्ञान में श्रुत का निमित्त था, इसलिये पहिले 'श्रुतज्ञान' कहकर निमित्त का ज्ञान कराया है। अब निमित्त को अलग करके मात्र ज्ञान का स्वरूप बताते हैं। निमित्त की उपाधि को दूर करके ज्ञान एक ही प्रकार का है, उसमें कोई उपाधि का भेद नहीं है।

सूत्र का ज्ञान है, यह कहना सो उपचार है। जो उपचार है, सो निमित्त का ज्ञान कराता है, किन्तु वह निमित्त का उपचार कब हो सकता है? अनुपचरित-निरपेक्ष ज्ञानस्वभाव भिन्न है; किसी सूत्र से ज्ञान नहीं होता—ऐसा निश्चय करने के बाद ज्ञान में जो निमित्त होते हैं, उन्हें जानकर उपचार से कहते हैं कि यह सूत्र का ज्ञान है। जहाँ बारह अंग का और चौदह पूर्व का ज्ञान है—ऐसा कहा जाता है, वहाँ वास्तव में ज्ञान तो एक ही प्रकार का है, परंतु निमित्त के उपचार से वह कथन किया जाता है।

सर्वज्ञदेव श्री अरिहंत भगवान के द्वारा 'स्वयं जानकर उपदिष्ट' स्यात्कार चिह्नवाला सूत्र है। यहाँ सूत्र की व्याख्या करते हुये 'स्वयं जानकर उपदष्टि' कहा है, इसलिये आचार्यदेव अपने ज्ञान में यह निर्णय कर लेते हैं कि केवलज्ञानी ने क्या जाना है? सर्वज्ञ का केवलज्ञान अपनी पर्याय में उतरता रहता है, समस्त केवलज्ञान को प्रतीति में ले लिया है। ज्ञान में अपूर्णता है, इसलिये सूत्र का निमित्त आता है, परन्तु यहाँ तो केवलज्ञान की ओर के बल से आचार्यदेव कहते हैं कि हम तो सम्पूर्ण केवलज्ञान को ही मानते हैं; हम अपूर्णता को कदापि प्रतीति में नहीं लेते। हमारा स्वभाव पूर्ण है, और स्वभाव की अवस्था भी पूर्ण ही है। इस प्रकार हम सामान्य-विशेष को अभेद रूप से प्रतीति में लेते हैं। आचार्य भगवान के अन्तरंग में पूर्णता की ओर का अधिक बल है।

भगवान के द्वारा कथित स्याद्वाद चिह्नवाले सूत्र को ही यहाँ निमित्त के रूप में बताया है। इसप्रकार सच्चे निमित्तों का स्वरूप भी बतलाते जाते हैं। भगवान के द्वारा कथित सूत्र ज्ञान में भले ही निमित्तकारण है, परन्तु ज्ञान तो उससे भिन्न ही है। ज्ञान पौद्गलिक शब्दब्रह्मरूप नहीं है। वाणी के शब्द और आत्मा का ज्ञान दोनों भिन्न हैं। शब्द से अथवा शब्द की ओर होनेवाले झुकाव से ज्ञान नहीं होता, और वास्तव में तो वह पर को जानता ही नहीं है। निश्चय से ज्ञान अपनी वर्तमान शक्ति को ही स्वयं जानता है, और वह स्वयं अकेला संग-विकार रहित है, तथा जब ज्ञान पराश्रयरहित स्वसन्मुख हुआ, तभी सूत्र को निमित्त कहा गया और उस ज्ञान को 'श्रुतज्ञान' कहा गया.... परन्तु यदि ज्ञान, निमित्त का लक्ष छोड़कर स्वसन्मुख न हो तो उसे श्रुत का निमित्तपन भी न आये। ज्ञान हो तभी तो श्रुत को निमित्त कहा जायगा न! किन्तु जहाँ ज्ञान ही नहीं, वहाँ श्रुत का उपचार किसे कहा जाय?

यदि उपादान स्वयं हो तो दूसरे को निमित्त कहा जाय, किन्तु जहाँ उपादान ही स्वयं नहीं है, तब फिर वहाँ अन्य वस्तु को किस का निमित्त कहा जाय ? 'निमित्त' नाम तो उपादान की अपेक्षा से है। जब ज्ञान में स्वोन्मुख दशा होती है, तब उसे श्रुत का निमित्त कहा जाता है और इसीलिये श्रुतज्ञान कहलाता है; किन्तु श्रुत के कारण से ज्ञान कदापि नहीं होता। श्रुत और भगवान की साक्षात् वाणी एक तरफ रह जाती है और उसका लक्ष छूटकर आत्मा में एकाग्रता से ज्ञान में केवलज्ञान दशा होती है। इस में निमित्त क्या करेगा ? जो अकेला सूत्र के लक्ष में ही अटक रहा है, उसके लिये तो सूत्र, ज्ञान का निमित्तरूप भी नहीं है, परन्तु जब सूत्र का लक्ष छोड़कर ज्ञान में एकाग्र हो जाता है, तब उसे ज्ञान का निमित्त कहा जाता है। देखिये तो जरा, उपादान-निमित्त की स्थिति ! शास्त्रों में कई जगह व्यवहाररत्नत्रय को निश्चयरत्नत्रय का कारण कहा गया है, परन्तु कब ? इसे उपरोक्त प्रकार से समझना चाहिये कि जब तक व्यवहाररत्नत्रय में अटक रहा है, तब तक उस व्यवहार को निश्चयरत्नत्रय का निमित्त भी नहीं कहा जाता, किन्तु जब स्वयं व्यवहार का लक्ष छोड़कर निश्चयरत्नत्रय को प्रगट करता है, तब उस व्यवहाररत्नत्रय को निमित्त रूप कहा जाता है। व्यवहार का लक्ष छोड़ने के बाद व्यवहार को निमित्तरूप कहा जाता है।

यहाँ इस गाथा में आचार्यदेव ज्ञान में से श्रुत की उपाधि को दूर करते हैं। अर्थात् ज्ञान में जो निमित्त है, उस निमित्त के ओर के विकल्प का त्याग करके मात्र ज्ञान में-निमित्त रहित ज्ञान में ही मैं एकाग्र होकर केवलज्ञान प्रगट करुं, जो केवलज्ञान निमित्त रहित है। ऐसी आचार्यदेव की भावना है। इस समय निमित्त का निषेध करके उसका लक्ष छोड़ देता हूँ, मात्र स्वभाव के लक्ष से जब केवलज्ञान होगा, तब उसमें सब कुछ ज्ञात होगा कि "पहले यह निमित्त था।"

वर्तमान दशा में ही सम्पूर्ण केवलज्ञान प्रतीति में आता है; इसलिये ज्ञान में निमित्त की उपाधि को दूर करके आचार्यदेव कहते हैं कि स्थिरता में जैसा केवली भगवान को अनुभव है, वैसा ही अनुभव श्रुतकेवली को भी है, इसलिये ज्ञान के भेद को गौण करके अनुभव की दृष्टि से दोनों समान ही हैं-ऐसा कहते हैं। अहो ! ऐसा ही आत्मस्वभाव है, उसकी प्रतीति में केवलज्ञान की शंका का स्थान है ही कहाँ ? भव का स्थान कहाँ है ? स्वभाव में शंका नहीं है तथा भव भी नहीं है। यहाँ स्वभावदृष्टि की नि:शंकता का जोर है। जिसका अवस्था भेद पर भार है, उसकी निमित्त पर दृष्टि है। यहाँ तो स्वभाव पूरा ही है, उसकी पूर्णता की अस्ति को स्वीकार करके अपूर्णता की नास्ति को स्वीकार करता है। पूर्ण स्वरूप की अखण्ड प्रतीति और अनुभव के पुरुषार्थ के बल में, पर्याय में

अपूर्णता के नास्तित्व को स्वीकार करता है। और पूर्णता नहीं है, उसकी अस्ति को स्वीकार करता है कि मैं पूर्ण हूँ, मेरे निमित्त की उपाधि नहीं है। प्रतीति में केवलज्ञान ही है, अपूर्ण है ही नहीं। केवलज्ञानी के और हमारे अनुभव में कोई अन्तर-व्यवधान नहीं है। यह विकल्प नष्ट कर दिया गया है कि ''इस भव में मुझे केवलज्ञान नहीं है और मैं केवलज्ञान प्रगट करूँ।''

किसी को ऐसा लग सकता है कि यह तो केवलज्ञान की बहुत बड़ी बात है; किन्तु वास्तव में तो यह अपने स्वभाव की ही बात है। जो अपनी ही बात है, वह बड़ी कैसे कहलायगी ? अपने स्वभाव की समझ है तो सहज, किन्तु परिचय न होने से बड़ी बात मालूम होती है। हाँ, इतना कहा जा सकता है कि पंचमकाल के छद्मस्थ मुनि जितना वीर्य स्फुरण कर सकते हैं, उस दृष्टि से बड़ी बात है; और क्योंकि इस प्रकार यह बड़ी बात है, इसलिये स्वयं उसे समझने के लिये उत्साह बढ़ाना चाहिये। यहाँ इस बात की चर्चा ही नहीं है कि पंचमकाल में केवलज्ञान नहीं होता। साधक सन्त मुनिजन, केवलज्ञान का पुरुषार्थ करते हैं। यहाँ विचारणीय बात यह है कि जो है, उसी का पुरुषार्थ किया जाता है या जो नहीं है उसका पुरुषार्थ होता है ? सच तो यह है कि जो है, उसी का मुनिजन पुरुषार्थ करते हैं। स्वभाव में क्या नहीं है ? सब कुछ तो है। जो स्वभाव में है, उसी की प्रतीति में 'है-है' का अनुभव होता है। 'नहीं-नहीं' का तो नहीं होता ? 'है' की प्रतीति में से तो 'है-है' का ही अनुभव होता है। बस, जो है, उसकी प्रतीति यदि तुझे हो तो 'जो नहीं हैं' तत्संबंधी विकल्प दूर कर दे।

सम्यग्दर्शन की कला के बिना दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता नहीं होती और उस एकता के बिना केवलज्ञान प्रगट नहीं होता। जो है ही नहीं उसकी चर्चा कैसी ? 'है' की प्रतीति में से ही केवलज्ञान होना है। हे भाई ! यदि तुझे अपने परिपूर्ण अस्तित्व की प्रतीति न हो तो तू किस से पूर्णता मांगेगा ? अनादि-निधन शुद्धात्मा जो 'केवल' है, उसके अनुभव से ही केवलीपन है। हम ऐसी निमित्त की ध्वनि को अलग ही कर देते हैं कि 'जो सब कुछ जानता है, वह केवली है' अहा ! देखो तो आचार्य देव की केवलज्ञान दशा की उत्कट आकांक्षा ! प्रत्येक शब्द में केवलज्ञान ही उड़ेल दिया है। पहले ऐसी प्रतीति तो करो। प्रतीति की जो मंथन दशा है, सो वही चारित्र है।

प्रश्न—यह तो अत्यन्त परिश्रम साध्य कठिन विषय है ?

उत्तर—हे भाई ! परिश्रम का डर और अकुलाहट तो एक प्रकार का दुःख है; और यह तो सुख के उपाय की बात चल रही है। यह तो अपना ही स्वरूप है, उसमें परिश्रम (दुःख या

अकुलाहट) कैसा? जिस में परिश्रम होता है, वह आत्मस्वरूप नहीं है, और जो आत्मस्वरूप है, उस में परिश्रम नहीं होता। सुख स्वरूप का उपाय भी सुखरूप ही होता है। यदि धर्म करने में दुःख हो तो फिर जीव धर्म करे ही क्यों? धर्म में दुःख हो ही नहीं सकता। दुःख आत्मा का स्वरूप कदापि नहीं है। जिस में दुःख है, वह सुख का मार्ग नहीं है। जिसे धर्म को समझने का मार्ग परिश्रम भरा लगता है, उसे विकार सरल लगता है, अर्थात् उसे धर्म रुचि नहीं होती, किन्तु विकार की ही रुचि होती है। अहो! आत्मस्वरूप की यथार्थ समझ अनन्त काल में भी अमूल्य है–महार्ध्य है; जहाँ ऐसा कहा गया है, वहाँ समझ की महिमा बताकर अपनी रुचि बढ़ाने के लिये कहा गया है; अमूल्य कहकर उसे छोड़ देने को नहीं कहा है। उसे स्वभाव की महार्घ्यता प्रतीत नहीं हो सकती, प्रत्युत उसे स्वभाव की महिमा और उल्लास जागृत होता जाता है।

आचार्यदेव आत्मस्वभाव को बड़ी ही सरलता से समझाते हैं। यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि ज्ञान को शब्द की उपाधि नहीं है, अकेला ज्ञान अन्तरंगोन्मुख होनेवाला है, उसमें कोई निमित्त का लक्ष नहीं है। हम मात्र आत्मानुभव करते हैं। इस अनुभूति में बीच में अनभूति नहीं आती। अनुभव में बीच में भंग नहीं पड़ता, इसलिये हम भी केवलज्ञानी भगवान की भाँति निरन्तर आत्मानुभव करते हैं, इसलिये हम भी केवली के ही समान हैं। यहाँ अपूर्ण–पूर्ण ज्ञान के भेद को गौण कर दिया है, और पूर्णापूर्ण स्थिरता के भेद को भी हटा दिया है।

ज्ञान निरुपाधिक है। वह किसी शब्दादिक पर का अवलम्बन नहीं लेता, किन्तु आत्मोन्मुख रहता है। सूत्र को उपचार से ही ज्ञान का कारण कहा है। यहाँ 'उपचार से ही' कहकर उपचार रहित स्वभाव पर भार दिया है। जैसे अन्न को जीवन का कारण कहना उपचारमात्र है, अर्थात् यदि मनुष्य जी रहा हो तो अन्न को उपचार से कारणता आती है, किन्तु यदि मनुष्य जिये ही नहीं तो अन्न को निमित्त नहीं कहा जाता। इसी प्रकार यदि जीव स्वयं समझकर अपने ज्ञान भाव को जीवित रखे तो उपचार से श्रुत को कारण कहा जाता है, किन्तु यदि जीव स्वयं समझे ही नहीं और ज्ञान भाव न करे तो श्रुत को उपचार से भी ज्ञान का कारण नहीं कहा जा सकता।

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि वास्तव में ज्ञान में श्रुत की उपाधि है ही नहीं। यदि श्रुत से (शब्दों से) ज्ञान होता हो तो जहाँ–जहाँ वाणी हो, वहाँ–वहाँ सर्वत्र श्रुतज्ञान होना ही चाहिये। और जहाँ वाणी न हो, वहाँ श्रुतज्ञान भी नहीं होना चाहिये। किन्तु श्रुत की उपाधि ज्ञान के नहीं है; इसलिये भगवान की वाणी सुनने पर भी किसी जीव को श्रुतज्ञान नहीं भी होता है; और वाणी के

बिना भी ज्ञान होता है। वाणी का लक्ष छोड़कर मात्र स्वभाव में स्थिरता करके केवलज्ञान होता है। भगवान की वाणी जानने की अवस्थारूप होनेवाली नहीं है परन्तु ज्ञान स्वयं जानने की अवस्थारूप होता है। पहले श्रुत का निमित्त होता है, परन्तु उस निमित्त का लक्ष छूट जाने पर भी ज्ञान अकेला ही निमित्त के बिना रह सकता है। अब विचारणीय विषय यह है कि जो आत्मा के साथ रहता है, वह आत्मा का है या जो छूट गया है वह है? ज्ञान अकेला बना रहता है, उसे श्रुत की उपाधि नहीं है। शब्दों की उपस्थिति रहने पर भी ज्ञान स्वयं जिधर ले जाना चाहे, उधर उन्मुख हो सकता है। ज्ञान को स्वभावोन्मुख किया कि निमित्तों का लक्ष छूटकर ज्ञान अकेला रह जाता है। निमित्त हों, तभी ज्ञान स्थिर रहता हो, सो बात नहीं है। साक्षात् भगवान और उनकी वाणी पर में रह गई, और ज्ञान निज में रह गया।

अहा! आचार्य देव ने कितना रहस्य भर दिया है! भले ही अपूर्ण ज्ञान में निमित्त होता है, परन्तु केवल ज्ञायकस्वभाव के बल से उस निमित्त का लक्ष छोड़ा कि मैं तो वही रहा किन्तु निमित्त का लक्ष छोड़ने से केवलज्ञान प्राप्त कर लूंगा। तात्पर्य यह है कि केवलज्ञान मात्र स्वभाव में से ही प्रगट होता है... श्रुत की उपाधि को दूर करने के लिये आचार्यदेव ने वास्तव में तो अपूर्ण ज्ञान का ही निषेध किया है। अभी अपूर्ण ज्ञान में श्रुत की उपाधि है-निमित्त है, किन्तु मैं इस समय उस का स्वभाव के बल से इंकार करता हूँ; और जब स्वभावानुभव की एकाग्रता के बल से केवलज्ञान प्रगट होगा, तब उस केवलज्ञान में ऐसा ज्ञान आ जायगा कि "पहले छद्मस्थदशा में निमित्त था।" आचार्यदेव के हृदय में अत्यन्त गंभीरता और आन्तरिक अति बल है। यहाँ अपूर्णता की कहीं कोई बात ही नहीं है, चाहे जहाँ से लेकर एकमात्र परिपूर्ण केवलज्ञान में ही ला रखते हैं।

यदि कोई कहे कि इस काल में जब केवलज्ञान ही नहीं होता, तब फिर केवलज्ञान की चर्चा क्यों करते हो? उसका उत्तर देते हुए आचार्यदेव कहते हैं—कौन कहता है कि इस काल में वस्तु स्वभाव में केवलज्ञान नहीं होता? हम यहाँ वस्तु स्वभाव की शक्ति को प्रगट कर रहे हैं; और तू किसकी बात सुनने बैठा है! तू स्वभाव की बात सुन रहा है या काल की? हमारे पास क्षेत्र और काल की बात नहीं है, हम तो आत्मस्वभाव की ही यथातथ्य (जैसा का तैसा) बता रहे हैं। जिस का लक्ष्य काल पर है, और जिस का दृष्टि भार काल पर ही है, उसने इस आत्मस्वभाव की बात ही नहीं सुनी। यदि वह आत्मस्वभाव की बात को सुन ले तो उसे भव की शंका ही न रहे। यदि भव की शंका है तो समझना चाहिये कि उसने स्वभाव की बात ही नहीं सुनी, किन्तु वह विकार के लक्ष में

ही अटक रहा है। स्वभाव में भव है ही नहीं, इसलिये जिसने स्वभाव की बात को माना है, उसे भव की शंका नहीं होती।

मोक्ष और केवलज्ञान आत्मस्वभाव में से आता है या काल में से? जहाँ आत्मा है, वहाँ उसकी अवस्था रहती है, वह किसी निमित्त में नहीं रहती। इसलिये स्वभाव में एकाग्र होकर निमित्त का लक्ष छोड़ दे तो निर्मल दशा प्रगट हो। अर्थात् उसे अपनी नि:शंकता के कारण वर्तमान में केवलज्ञान होने का पक्का करार हो जाता है।

जिसने आत्मस्वभाव को नहीं जाना और जिसे यह खबर नहीं है कि स्वभाव गृह में क्या-कितनी शक्ति है, वह केवलज्ञान की पर्याय कहाँ से लायेगा? जहाँ से केवलज्ञान आता है, उस स्वभाव को तो वह जानता ही नहीं। जिसके स्वरूप की ही खबर नहीं है, वह उसमें से क्या पा सकेगा? बिना खबर के परेशानी हुये बिना रह ही नहीं सकती। और आत्मप्रतीति होने पर व्याकुलता मिट जाती है। इसलिय पहले, जैसा स्वभाव है, वैसा ज्ञान करना चाहिये।

अहा! वस्तु स्वभाव की एक-एक बात को स्वीकार करने पर आत्मा का केवलज्ञान उद्वेलित होने लगता है। कोई भी एक बात स्वीकार करे तो केवलज्ञान की स्वीकृति अवश्य ही हो जाती है। यदि प्रतीति में केवलज्ञान उद्वेलित न हो तो समझना चाहिये कि यथार्थतया एक भी बात नहीं जमी; मात्र कल्पना से ही मान रखा है।

कृत कल्पना दृढ करे नाना नास्ति विचार।
किन्तु अस्ति सूचित करे, यह यथार्थ निर्धार॥

जीव अनेक प्रकार से नास्तित्व की भावना को दृढ़ करते हैं, परन्तु जो नास्तित्व की मान्यता है, सो वही अपने अस्तित्व को सूचित करती है। 'नास्ति' में से ही 'अस्ति' की सिद्धि हो जाती है नास्तित्व की मान्यता भी अपनी सत्ता में ही तो हुई है न!

यहाँ आचार्यदेव, निमित्त का लक्ष छुड़ाकर स्वभाव का लक्ष करवाकर, ज्ञान में से श्रुत की उपाधि को दूर करते हैं। ज्ञान के निमित्तों की ओर न देखकर, जिसके आधार से ज्ञान की अवस्था हुई है, उस ओर देख और उसमें स्थिर हो। यहाँ निमित्त को दूर करके स्वभाव के बल पर आचार्यदेव कहते हैं कि अरे! केवली में और हम में (श्रुतकेवली में) भेद मानता ही कौन है? निमित्त को छोड़ दिया कि वास्तव में निमित्तानुसारी भाव को ही दूर कर दिया। इस प्रकार ज्ञप्ति एकांकी रह जाती है, अर्थात् आत्मानुभव करने में केवली और श्रुतकेवली की समानता सिद्ध हो जाती है।

इसका अर्थ यह हुआ कि जिसे मात्र ज्ञान अनुभव की प्रतीति हुई है, उस जीव ने तीर्थंकर की वाणी को समझा है। जिसने केवलज्ञान को जान लिया, उसने केवली को जान लिया। जिसने तीर्थंकर की वाणी को समझ लिया, वह तीर्थंकरों की ही जाति का हो गया है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि हमारा उपदेश सुननेवाले के और अपने बीच हम कोई भेद नहीं करते। तीर्थंकर की वाणी सुनकर हम यह बात कह रहे हैं; जिसकी समझ में यह बात आ गई, वह अभेदरूप से समान ही है। साधकदशा के भेदों को गौण करके साध्यरूप से सभी समान हैं। अहा! भगवान कुन्दकुन्द के गंभीरतम रहस्य को श्री अमृतचन्द्राचार्य देव ने अपनी टीका में खोलकर रख दिया है। टीका में उनने उस रहस्य को अद्‌भुत शैली से विकसित किया है–स्पष्ट किया है।

—: धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है :—

अज्ञानियों की यह मिथ्या मान्यता है कि शुभभाव धर्म का कारण है। शुभभाव तो विकार है, वह धर्म का कारण नहीं है। सम्यग्दर्शन स्वयं धर्म है और वह धर्म का मूल कारण है।

अज्ञानी का शुभभाव, अशुभ की सीढ़ी है और ज्ञानी के शुभ का अभाव शुद्धता की सीढ़ी है। अशुभ से सीधा शुद्धभाव किसी भी जीव के नहीं हो सकता, किन्तु अशुभ को छोड़कर पहले शुभभाव होता है और उस शुभ को छोड़कर शुद्ध में जाया जाता है, इसलिये शुद्धभाव से पूर्व शुभभाव का ही अस्तित्व होता है। ऐसा ज्ञान मात्र कराने के लिये शास्त्र में शुभभाव को शुद्धभाव का कारण उपचार से ही कहा है। किन्तु यदि शुभभाव को शुद्धभाव का कारण वास्तव में माना जाय तो उस जीव को शुभभाव की रुचि है, इसलिये उस का वह शुभभाव, पाप का ही मूल कहलायेगा। जो जीव, शुभभाव से धर्म मानकर शुभभाव करता है, उस जीव को उस शुभभाव के समय ही मिथ्यात्व के सबसे बड़े महापाप का बंध होता है अर्थात् उसे मुख्यतया तो अशुभ का ही बंध होता है और ज्ञानी जीव यह जानता है कि इस शुभ का अभाव करने से ही शुद्धता होती है; इसलिये उनके कदापि शुभ की रुचि नहीं होती अर्थात् वे अल्पकाल में शुभ का भी अभाव करके शुद्धभावरूप हो जाते हैं।

मिथ्यादृष्टि जीव, पुण्य की रुचिसहित शुभभाव करके नवमें ग्रैवेयक तक गया, तथापि वहाँ से निकल कर निगोदादि में गया क्योंकि अज्ञानसहित का शुभभाव ही पाप का मूल है। शुभभाव मोहरूपी राजा की कड़ी है। जो उस शुभराग की रुचि करता है, वही मोहरूपी राजा के जाल में फंस कर संसार में परिभ्रमण करता रहता है। जीव मुख्यतया अशुभ में तो धर्म मानता ही नहीं, परन्तु वह जीव, शुभ में धर्म मानकर अज्ञानी होता है। जो स्वयं अधर्मरूप है—ऐसा राग भाव धर्म के लिये क्यों कर सहायक हो सकता है ? धर्म का कारण धर्मरूप भाव होता है या अधर्मरूप भाव होता है ? अधर्मभाव का नाश होना ही धर्मभाव का कारण है अर्थात् अशुभ तथा शुभभाव का नाश होना ही धर्मभाव का कारण है।

शुभभाव धर्म की सीढ़ी नहीं है, किन्तु सम्यक् समझ ही धर्म की सीढ़ी है। केवलज्ञानदशा संपूर्ण धर्म है और सम्यक् समझ अंशतः धर्म (श्रद्धा रूपी धर्म) है। वह श्रद्धारूपी धर्म ही धर्म की पहली सीढ़ी है। इस प्रकार धर्म की सीढ़ी धर्मरूप ही है किन्तु अधर्मरूप शुभभाव कदापि धर्म की सीढ़ी नहीं है। श्रद्धाधर्म के बाद ही चारित्रधर्म हो सकता है; इसीलिये श्रद्धारूपी धर्म उस धर्म की सीढ़ी है। भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने कहा है कि 'दंसण मूलो धम्मो' अर्थात् धर्म का मूल दर्शन है। ★

पात्रता की पहली सीढ़ी

गृहीत और अगृहीत मिथ्यात्व का त्याग

लेखांक – तीसरा

लेखक :— रामजीभाई मा. दोशी

[आत्मस्वरूप की विपरीत मान्यता को मिथ्यात्व कहते हैं; मिथ्यात्व ही सबसे बड़ा पाप है और वही हिंसा है; उसे आत्मा की यथार्थ समझ के द्वारा दूर किया जा सकता है। यथार्थ समझ के होने पर ही धर्म की सत् क्रिया प्रारंभ होती है और अधर्मरूपी असत् क्रिया का नाश होता है। यथार्थ समझ के द्वारा बालक, युवक, वृद्ध और सभी जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकते हैं, इसलिये वस्तुस्वरूप की यथार्थ समझ प्राप्त करनी चाहिये। वस्तुस्वरूप का वर्णन करते हुये नव तत्त्व, द्रव्य-पर्याय, निश्चय-व्यवहार, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, अस्ति-नास्ति, नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष इत्यादि का स्वरूप संक्षेप में बता चुके हैं। यह सब पहले (अंक २४ तथा २७ में) बताया जा चुका है। अब छ द्रव्यों को विशेषतयः सिद्ध करके वस्तु स्वरूप सम्बन्धी विशेष ज्ञातव्य कुछ बातें बताई जाती हैं और अन्त में उसका प्रयोजन बतलाकर यह विषय समाप्त किया जाता है।]

वस्तु के अस्तित्व का निर्णय

प्रश्न—यह कहा है कि आत्मा और परमाणु वस्तु हैं परन्तु यदि परमाणु वस्तु हों तो वे आँखों से दिखाई क्यों नहीं देते ? और आत्मा भी आँखों से क्यों नहीं दिखाई देता ? जो वस्तु है, वह आँखों से दिखाई देनी चाहिये ?

उत्तर—यह सिद्धान्त ठीक नहीं है कि जितना आंख से दिखाई दे, उतना माना जाय। यह मान्यता भी उचित नहीं है कि आंखों से दिखाई देने पर ही कोई चीज़ वस्तु कहलाती है। वस्तु आंखों से भले ही दिखाई न दे किन्तु ज्ञान में तो मालूम होती ही है। एक प्रथक् रजकण (परमाणु) आंखों से दिखाई नहीं दे सकता किन्तु ज्ञान के द्वारा उसका निश्चय किया जा सकता है। जैसे पानी ऑक्सीजन और हाईड्रोजन के एकत्रित होने पर बनता है किन्तु ऑक्सीजन और हाइड्रोजन और उसमें पानी की शक्ति आंखों से दिखाई नहीं देती, तथापि वह ज्ञान के द्वारा जाना जा सकता है; इसी प्रकार अनेक परमाणु एकत्रित होकर सोना, लकड़ी, कागज इत्यादि दृश्यमान स्थूल पदार्थों के रूप में हुये हैं, जिनसे परमाणु का अस्तित्व निश्चित हो सकता है। जितने भी स्थूल पदार्थ दिखाई देते हैं, वे सब परमाणु की जाति के (अचेतन वर्णादि युक्त) ज्ञात होते हैं; उसका अन्तिम अंश परम-अणु है। इस से निश्चित हुआ कि आँख से दिखाई न देने पर भी परमाणु का नित्य अस्तित्व ज्ञान में प्रतीत होता है।

यदि ऐसा कहा जाये कि हम तो उतना ही मानते हैं, जितना आंखों से दिखाई देता है-अन्य कुछ नहीं मानते तो हम इसके समाधानार्थ यह पूछते है कि क्या किसी ने अपने सात पीढ़ी पहले के बाप को अपनी आंखों से देखा है ? आंखों से न देखने पर भी सात पीढ़ी पूर्व बाप था, यह मानता है या नहीं ? वर्तमान में स्वयं है और अपना बाप भी है; इसलिये सात पीढ़ी पूर्व का बाप भी था; इस प्रकार आंखों से दिखाई न देने पर भी नि:शंकतय: निश्चय करता है; उसमें ऐसी शंका नहीं करता कि "मैंने अपने सात पीढ़ी पूर्व के पिता को आंखों से नहीं देखा, इसलिये वे होंगे या नहीं ?" वस्तु का अस्तित्व आंखों से निश्चित नहीं होता किन्तु ज्ञान से ही निश्चित होता है और इस प्रकार जानने वाला ज्ञान भी प्रत्यक्ष ज्ञान के समान ही प्रमाणभूत है।

जो वस्तु वर्तमान अवस्था को धारण कर रही है, वह वस्तु त्रिकाल स्थाई अवश्य होती है। यदि त्रिकालिता न हो तो उसकी वर्तमान अवस्था भी न हो सके। उसकी जो वर्तमान अवस्था ज्ञात होती है, वह वस्तु का त्रिकाल अस्तित्व प्रगट करती है। वर्तमान में परमाणु की अवस्था टोपी के रूप में है, वह यह प्रकट करती है कि हम पहले कपास, सूत इत्यादि अवस्था रूप में थे और भविष्य में धूल, अन्य इत्यादि अवस्था रूप होंगे। इस प्रकार वर्तमान अवस्था, वस्तु के त्रिकाल अस्तित्व को घोषित करती है। अब यहाँ यह विचार करना चाहिये कि दूध बदल कर दही बन जाता है; दही बदलकर मक्खन या घी के रूप में हो जाता है और घी बदलकर विष्टा में रूपान्तरित

हो जाता है; उसमें मूल स्थिर रहनेवाली कौन सी वस्तु है जिसके आधार से यह रूपान्तर हुआ करते हैं ? विचार करने पर मालूम होगा कि नित्य स्थाई मूल वस्तु परमाणु है और परमाणु वस्तु के रूप में नित्य स्थिर रह कर उसकी अवस्था में रूपान्तर होते रहते हैं। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि दृष्टिगोचर न हो सकने पर भी परमाणु वस्तु है।

जैसे परमाणु का अस्तित्व ज्ञान के द्वारा निश्चित किया जा सकता है; उसी प्रकार आत्मा का अस्तित्व भी ज्ञान के द्वारा निश्चित किया जा सकता है। यदि आत्मा न हो तो यह सब कौन जानेगा ? ''आत्मा नहीं है'' ऐसी शंका भी आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कौन कर सकता है ? आत्मा है और 'है' के लिये वह त्रिकाल स्थाई है।

आत्मा जन्म से मरण तक ही नहीं होता किन्तु वह त्रिकाल होता है। जन्म और मरण तो शरीर के संयोग और वियोग की अपेक्षा से हैं। यदि शरीर की अपेक्षा को अलग कर दिया जाय तो जन्म-मरणरहित आत्मा लगातार त्रिकाल है। वास्तव में आत्मा का न तो जन्म होता है और न मरण होता है। आत्मा सदा शाश्वत-अविनाशी वस्तु है। आत्मा वस्तु ज्ञानस्वरूप है, वह निज से ही है; वह शरीर इत्यादि अन्य पदार्थों से स्थिर नहीं है अर्थात् आत्मा पराधीन नहीं है। आत्मा कर्माधीन नहीं है किन्तु स्वाधीन है।

जीव और अजीव

'आत्मा कैसा है ?' यह प्रश्न उपस्थित होते ही इतना तो निश्चित हो ही गया कि आत्मा से विरुद्ध जाति के अन्य पदार्थ भी हैं और उनसे इस आत्मा का अस्तित्व भिन्न है। अर्थात् आत्मा है; आत्मा के अतिरिक्त परवस्तु है और उस परवस्तु से आत्मा का स्वरूप भिन्न है; इसलिये यह भी निश्चित हो गया कि आत्मा, परवस्तु का कुछ नहीं कर सकता। इतना यथार्थ समझ लेने पर ही जीव और अजीव के अस्तित्व का निश्चय करना कहलाता है।

जीव स्वयं ज्ञातास्वरूप है—ऐसा निश्चय करने पर, यह भी स्वतः निश्चय हो गया कि जीव के अतिरिक्त अन्य पदार्थ ज्ञातास्वरूप नहीं है। जीव ज्ञाता है-चेतनस्वरूप है, इस कथन का कारण यह है कि ज्ञातृत्व से रहित-अचेतन अजीवपदार्थ भी हैं। उन अजीव पदार्थों से जीव की भिन्नता को पहचानने के लिये ज्ञातृत्व के चिह्न से (चेतना के द्वारा) जीव की पहचान कराई है। जीव के अतिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थ में ज्ञातृत्व नहीं है।

इससे जीव और अजीव नामक दो प्रकार के पदार्थों का अस्तित्व निश्चित हुआ। उनमें से

जीवद्रव्य के सम्बन्ध में अभी तक बहुत कुछ कहा जा चुका है। अजीव पदार्थ पाँच प्रकार के हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इस प्रकार छह द्रव्यों (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल) में से मात्र जीव ही ज्ञानवान है; शेष पाँच ज्ञान रहित हैं। वे पाँचों पदार्थ जीव से विरुद्ध लक्षण वाले हैं, इसलिये उन्हें 'अजीव' अथवा जड़ कहा गया है।

छह द्रव्यों की विशेष सिद्धि

१-२ जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य

जो स्थूल पदार्थ हमें दिखाई देते हैं, उन शरीर, पुस्तक, पत्थर, लकड़ी इत्यादि में ज्ञान नहीं है अर्थात् वे अजीव हैं। उन पदार्थों को तो अज्ञानी जीव भी देखता है। उन पदार्थों में कमीवेशी होती रहती है अर्थात् वे एकत्रित होते हैं और पृथक् हो जाते हैं। ऐसे दृष्टिगोचर होनेवाले पदार्थों को पुद्गल कहते हैं। रूप, रस, गंध, और स्पर्श पुद्गलद्रव्य के गुण हैं; इसलिये पुद्गलद्रव्य काला-सफेद; खट्टा-मीठा; सुगन्धित-दुर्गन्धित; और हल्का-भारी इत्यादिरूप से जाना जाता है। यह सब पुद्गल के ही गुण हैं। जीव काला-गोरा, या सुगन्धित-दुर्गन्धित नहीं होता; जीव तो ज्ञानवान है। शब्द टकराता है अथवा बोला जाता है; यह सब पुद्गल की ही पर्याय है। जीव उन पुद्गलों से भिन्न है। लोक में अज्ञानी बेहोश मनुष्य से कहा जाता है कि —तेरा चेतन कहाँ उड़ गया है ? अर्थात् यह शरीर तो अजीव है जो कि जानता नहीं है किन्तु जाननेवाला ज्ञान कहाँ चला गया ? अर्थात् जीव कहाँ गया। इससे जीव और पुद्गल इन दो द्रव्यों की सिद्धि हो गई।

३— धर्मद्रव्य

इस धर्मद्रव्य को जीव अव्यक्तरूप से स्वीकार करता है। छहों द्रव्यों का अस्तित्व स्वीकार किये बिना कोई भी व्यवहार नहीं चल सकता। आने-जाने और रहने इत्यादि में छहों द्रव्यों का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। 'राजकोट से सोनगढ़ आये' इस कथन में धर्मद्रव्य सिद्ध हो जाता है। राजकोट से सोनगढ़ आने का अर्थ यह है कि जीव और शरीर के परमाणुओं की गति हुई, एक क्षेत्र से दूसरा क्षेत्र बदला। अब इस क्षेत्र बदलने के कार्य में निमित्त द्रव्य किसे कहोगे ? क्योंकि यह नियम सुनिश्चित है कि प्रत्येक कार्य में उपादान और निमित्तकारण अवश्य होता है। अब यहाँ यह विचार करना है कि जीव और पुद्गलों के राजकोट से सोनगढ़ आने में कौन सा द्रव्य निमित्त है ? पहले तो जीव और पुद्गल दोनों उपादान हैं। निमित्त, उपादान से भिन्न होता है, इसलिये जीव अथवा पुद्गल उस क्षेत्रांतर का निमित्त नहीं हो सकता। कालद्रव्य परिणमन में निमित्त होता है

अर्थात् वह पर्याय के बदलने में निमित्त है, इसलिये कालद्रव्य क्षेत्रान्तर का निमित्त नहीं है। आकाशद्रव्य समस्त द्रव्यों को रहने के लिये स्थान देता है। जब हम राजकोट में थे, तब जीव और पुद्गल के लिये आकाश निमित्त था और सोनगढ़ में भी वही निमित्त है, इसलिये आकाश को भी क्षेत्रान्तर का निमित्त नहीं कहा जा सकता। इससे यह सुनिश्चित है कि क्षेत्रान्तररूप कार्य का निमित्त इन चार द्रव्यों के अतिरिक्त कोई अन्य द्रव्य है। गति करने में कोई एक द्रव्य निमित्तरूप है किन्तु वह द्रव्य कौनसा है, इस सम्बन्ध में जीव ने कभी कोई विचार नहीं किया, इसलिये उसे इसकी कोई खबर नहीं है। क्षेत्रान्तरित होने में निमित्तरूप जो द्रव्य है, उस द्रव्य को 'धर्मद्रव्य' कहा जाता है। यह द्रव्य अरूपी है, ज्ञानरहित है।

४— अधर्मद्रव्य

जैसे गति करने में धर्मद्रव्य निमित्त है; उसी प्रकार स्थिति करने में उससे विरुद्ध अधर्मद्रव्य निमित्तरूप है। ''राजकोट से सोनगढ़ आकर स्थित हुये' इस स्थिति में निमित्त कौन है ? स्थिर रहने में आकाश निमित्त नहीं हो सकता, क्योंकि उसका निमित्त तो रहने के लिये है, गति के समय भी रहने में आकाश निमित्त था, इसलिये स्थिति का निमित्त कोई अन्य द्रव्य होना चाहिये, और वह द्रव्य 'अधर्मद्रव्य' है। यह द्रव्य भी अरूपी और ज्ञान रहित है।

५— आकाशद्रव्य

हर एक द्रव्य के अपना स्वक्षेत्र होता है, वह निश्चय क्षेत्र है। जहाँ निश्चय होता है, वहाँ व्यवहार होता है, जो ऐसा न होय तो अल्पज्ञ प्राणी को समझाया नहीं जा सकता। इसलिये जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय तथा कालाणुओं के रहने का जो व्यवहार क्षेत्र, वह आकाश है। उस आकाश में अवगाहनहेतुगुण होने से उसके एक प्रदेश में अनंत सूक्ष्म रजकण तथा अनंत सूक्ष्म स्कंध भी रह सकते हैं। आकाश क्षेत्र हैं और अन्य पांच द्रव्य क्षेत्री हैं। क्षेत्र, क्षेत्री से बड़ा होता है, इसलिये एक अखंड आकाश के दो भाग हो जाते हैं, जिसमें पाँच क्षेत्री रहते हैं, वह लोकाकाश है और बाकी का भाग अलोकाकाश है।

'आकाश' नामक द्रव्य को लोग अव्यक्तरूप से स्वीकार करते हैं ''अमुक मकान इत्यादि स्थान का आकाश से पाताल तक हमारा अधिकार है'' इस प्रकार दस्तावेजों में लिखवाया जाता है, इससे निश्चित हुआ कि आकाश से पाताल रूप कोई एक वस्तु है। यदि आकाश से पाताल तक कोई वस्तु है ही नहीं तो कोई यह कैसे लिखा सकता है कि आकाश से पाताल तक मेरा अधिकार

है ? वस्तु है इसलिये उस पर अपना अधिकार माना जाता है। आकाश से पाताल तक कहने में उस सर्व व्यापी वस्तु को 'आकाशद्रव्य' कहा जाता है। यह द्रव्य, ज्ञानरहित है और अरूपी है। उसमें रूप, रस, गंध इत्यादि नहीं है।

६— कालद्रव्य

लोग दस्तावेज में यह लिखवाते हैं कि "यावत् चन्द्र दिवाकरौ—अर्थात् जब तक सूर्य और चन्द्रमा रहें, तब तक हमारा अधिकार है।" यहाँ पर कालद्रव्य को स्वीकार किया गया है। वर्तमान मात्र के लिये ही अधिकार हो, सो बात नहीं है किन्तु अभी काल आगे बढ़ता जा रहा है, उस समस्त काल में मेरा अधिकार है। इस प्रकार कालद्रव्य को स्वीकार करते हैं। लोग कहा करते हैं कि हम और हमारा परिवार सदा फलता फूलता रहे, इसमें भी भविष्य काल को स्वीकार किया है। यहाँ तो मात्र कालद्रव्य को सिद्ध करने के लिये फलने-फूलने की बात है, फलते-फूलते रहने की भावना तो मिथ्यादृष्टि की ही है। लोग कहा करते हैं कि हम तो सात पीढ़ी से सुखी रहते आ रहे हैं, इसमें भी भूतकाल को स्वीकार किया है। भूत, भविष्यत और वर्तमान इत्यादि सभी प्रकार 'कालद्रव्य' की व्यवहार पर्याय हैं। यह कालद्रव्य भी अरूपी है और ज्ञानरहित है।

इस प्रकार जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यों की सिद्धि की गई है। इनके अतिरिक्त अन्य सातवां कोई द्रव्य है ही नहीं। इन छह द्रव्यों में से एक भी द्रव्य कम नहीं है, ठीक छह ही हैं, और ऐसा मानने से ही यथार्थ वस्तु की सिद्धि होती है। यदि इन छह द्रव्यों के अतिरिक्त कोई सातवां द्रव्य हो तो उसका कार्य बताइये। ऐसा कोई कार्य नहीं है जो इन छह द्रव्यों से बाहर हो, इसलिये यह सुनिश्चित है कि कोई सातवां द्रव्य है ही नहीं। और यदि इन छह द्रव्यों में से कोई एक द्रव्य कम हो तो उस द्रव्य का कार्य कौन करेगा ? छह द्रव्यों में से एक भी ऐसा नहीं है जिसके बिना विश्व का नियम-व्यवहार चल सके।

छह द्रव्यों के सम्बन्ध में कुछ विशेष ज्ञातव्य

(१) जीव—इस जगत में अनन्त जीव हैं, जीव जानपने चिह्न (विशेष गुण) के द्वारा पहचाना जाता है; क्योंकि जीव के अतिरिक्त किसी भी पदार्थ में ज्ञातृत्व नहीं है। जो अनन्त जीव है, वे एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं।

(२) पुद्गल—इस जगत में अनन्तानन्त पुद्गल हैं; वे रूप, रस, गंध, स्पर्श के द्वारा पहचाने जाते हैं, क्योंकि पुद्गल के अतिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थ में रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं

होते। इन्द्रियों के द्वारा जो भी दिखाई देता है, वह सब पुद्गलद्रव्य से बने हुये स्कन्ध हैं।

(३) धर्म—यहाँ धर्म का अर्थ आत्मा का धर्म नहीं है, किन्तु धर्म नाम का प्रथक् द्रव्य है। यह द्रव्य एक अखंड द्रव्य है जो समस्त लोक में विद्यमान है। जीव और पुद्गलों के गति करते समय यह द्रव्य निमित्तरूप पहचाने जाते हैं।

(४) अधर्म—यहाँ अधर्म का अर्थ पाप अथवा आत्मा का दोष नहीं है किन्तु 'अधर्म' नाम का स्वतंत्र द्रव्य हैं। यह एक अखंड द्रव्य है जो कि समस्त लोक में विद्यमान है। जब जीव और पुद्गल गति करते रुक जाते हैं, तब यह द्रव्य उस स्थिरता में निमित्त रूप पहचाने जाते हैं।

(५) आकाश—यह एक अखंड सर्व व्यापक द्रव्य है। यह समस्त पदार्थों को स्थान देने में निमित्त रूप पहचाने जाते हैं। इस द्रव्य के जितने भाग में अन्य पाँच द्रव्य रहते हैं, उतने भाग को 'लोकाकाश' कहते हैं, और जितना भाग पाँच द्रव्यों से रहित-खाली होता है, उसे अलोकाकाश कहते हैं। जो खाली स्थान कहा जाता है, उसका अर्थ मात्र आकाशद्रव्य होता है।

(६) काल—कालद्रव्य असंख्य हैं। इस लोक में असंख्य प्रदेश हैं, उस प्रत्येक प्रदेश पर एक-एक काल द्रव्य स्थित है। जो असंख्य कालाणु हैं, वे सब एक दूसरे से पृथक् हैं, यह द्रव्य वस्तु के रूपांतर (परिवर्तन) होने में निमित्त रूप पहचाने जाते हैं।

इन छह द्रव्यों को सर्वज्ञ के अतिरिक्त अन्य कोई भी प्रत्यक्ष नहीं जान सकता। सर्वज्ञदेव ने ही इन छह द्रव्यों को जाना है और उन्होंने उनका यथार्थ स्वरूप कहा है, इसलिये सर्वज्ञ के सत्य मार्ग के अतिरिक्त अन्य कहीं भी छह द्रव्यों का स्वरूप नहीं पाया जा सकता, क्योंकि अन्य अपूर्ण जीव उन द्रव्यों को परिपूर्ण नहीं जान सकते, इसलिये छह द्रव्यों के स्वरूप को यथार्थतया समझना चाहिये।

टोपी के उदाहरण से छह द्रव्यों की सिद्धि

देखिये, यह वस्त्र निर्मित टोपी अनन्त परमाणु एकत्रित होकर बनी है और उसके कट जाने पर-छिन्न-भिन्न हो जाने पर परमाणु पृथक् हो जाते हैं। इस प्रकार एकत्रित होना और पृथक् होना पुद्गल का स्वभाव है। यह टोपी सफेद है, कोई काली, पीली और लाल रंग की भी होती है, रंग पुद्गलद्रव्य का चिह्न है, इसलिये जो दृष्टिगोचर होता है, वह पुद्गलद्रव्य है। 'यह टोपी है, पुस्तक नहीं' ऐसा जाननेवाला ज्ञान है और ज्ञान, जीव का चिह्न है, इससे जीव भी सिद्ध हो गया।

अब यह विचार करना है कि टोपी कहाँ है ? यद्यपि निश्चय से तो टोपी, टोपी में ही है,

परन्तु टोपी, टोपी में ही है—ऐसा कहने से टोपी का बराबर खयाल नहीं आ सकता, इसलिये निमित्त के रूप में यह कहा जाता है कि अमुक जगह पर टोपी स्थित है। जो जगह है, वह आकाशद्रव्य का अमुक भाग है, इस प्रकार आकाशद्रव्य सिद्ध हुआ।

ध्यान रहे, अब इस टोपी की घड़ी की जाती है। जब टोपी सीधी थी, तब आकाश में थी और उसकी घड़ी हो जाने पर भी वह आकाश में ही है, इसलिये आकाश के निमित्त से टोपी की घड़ी का होना नहीं पहचाना जा सकता। तब फिर टोपी की घड़ी होने की जो क्रिया हुई है, उसे किस निमित्त से पहचानेंगे ? टोपी की घड़ी हो गई, इसका अर्थ यह है कि पहले उसका क्षेत्र लम्बा था और वह अब अल्प क्षेत्र में समा गई है। इस प्रकार टोपी क्षेत्रान्तरित हुई है और उस क्षेत्रान्तर के होने में जो वस्तु निमित्त है, वह धर्मद्रव्य है।

अब टोपी घड़ी होकर ज्यों की त्यों स्थिर पड़ी है। उसमें कौन निमित्त है ? आकाशद्रव्य तो मात्र स्थान दान में निमित्त है। टोपी के चलने अथवा स्थिर रहने में आकाश निमित्त नहीं है। जब टोपी ने सीधी दशा में से टेढ़ी दशारूप होने के लिये गमन किया, तब धर्मद्रव्य का निमित्त था, तो अब स्थिर रहने की क्रिया में उससे विपरीत निमित्त होना चाहिये। गति में धर्मद्रव्य निमित्त था और अब स्थिर रहने में अधर्मद्रव्य निमित्त रूप है। पहले टोपी सीधी थी, अब घड़ीवाली है और अब वह अमुक समय तक रहेगी–जहाँ ऐसा जाना वहाँ 'काल' सिद्ध हो गया। भूत, भविष्यत, वर्तमान अथवा नया–पुराना–दिन–घंटे इत्यादि जो भी भेद होते हैं, वे सब किसी एक मूल वस्तु के बिना नहीं हो सकते हैं। उपर्युक्त सभी भेद कालद्रव्य के हैं। यदि कालद्रव्य न हो तो नया–पुराना, पहले–पीछे इत्यादि कोई भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इससे कालद्रव्य सिद्ध हो गया।

इन छह द्रव्यों में से यदि एक भी द्रव्य न हो तो जगत व्यवहार नहीं चल सकता। यदि पुद्गल नहीं हो तो टोपी नहीं हो सकती, यदि जीव न हो तो टोपी का अस्तित्व कौन निश्चित करेगा ? यदि आकाश न हो तो यह नहीं जाना जा सकता कि टोपी कहाँ है ? यदि धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य न हों तो टोपी में होने वाला परिवर्तन (क्षेत्रान्तर और स्थिरता) नहीं जाना जा सकता। यदि कालद्रव्य न हो तो 'पहले' जो टोपी सीधी थी, वही 'अब' घड़ी वाली है–इस प्रकार पहले टोपी का अस्तित्व निश्चित नहीं हो सकता, इसलिये टोपी को सिद्ध करने के लिये छहों द्रव्यों को स्वीकार करना होता है। विश्व की किसी भी एक वसतु को स्वीकार करने पर व्यक्त रूप से अथवा अव्यक्त रूप से छहों द्रव्यों की स्वीकृति हो जाती है।

मानव शरीर को लेकर छह द्रव्यों की सिद्धि

यह दृष्टिगोचर होनेवाला शरीर, पुद्गल निर्मित है, और इस शरीर में जीव रहता है। जीव और पुद्गल एक ही आकाश-स्थल में रहते हैं, तथापि दोनों भिन्न हैं। जीव का ज्ञाता स्वभाव है। और पुद्गल निर्मित यह शरीर कुछ भी नहीं जानता। यदि शरीर का कोई अंग कट जाय, तथापि जीव का ज्ञान नहीं कट जाता, जीव तो सम्पूर्ण बना रहता है, क्योंकि जीव और शरीर सदा भिन्न हैं। दोनों का स्वरूप भिन्न है, और दोनों का प्रथक् कार्य है। यह जीव और पुद्गल स्पष्ट हैं। जीव और शरीर कहाँ रहते हैं ? वे अमुक स्थान पर दो चार या छह फुट के स्थान में रहते हैं, इस प्रकार स्थान अथवा जगह के कहने पर 'आकाश द्रव्य' सिद्ध हो जाता है।

यह ध्यान रखना चाहिये कि जहाँ यह कहा जाता है कि जीव और शरीर आकाश में रह रहे हैं, वहाँ वास्तव में जीव, शरीर और आकाश तीनों स्वतंत्र पृथक्-पृथक् हैं, कोई एक दूसरे के स्वरूप में घुस नहीं जाता। जीव तो ज्ञातास्वरूप में ही विद्यमान है। रूप, रस, गन्ध, इत्यादि शरीर में ही हैं, वे आकाश अथवा जीव इत्यादि किसी में भी नहीं है। आकाश में न तो रूप, रस, इत्यादि हैं और न ज्ञान ही है, वह अरूपी-अचेतन है। जीव में ज्ञान है किन्तु रूप, रस, गंध इत्यादि नहीं है अर्थात् वह अरूपी-चेतन है; पुद्गल में रूप, रस, गंध, इत्यादि हैं, किन्तु ज्ञान नहीं है, अर्थात् वह रूपी-अचेतन है। इस प्रकार तीनों द्रव्य एक-दूसरे भिन्न-स्वतंत्र हैं। कोई अन्य वस्तु स्वतंत्र वस्तुओं का कुछ नहीं कर सकती। यदि एक वस्तु में दूसरी वस्तु कुछ करती हो तो वस्तु को स्वतंत्र कैसे कहा जायगा ?

इसप्रकार जीव, पुद्गल और आकाश का निश्चय करके कालद्रव्य का निश्चय करते हैं। प्राय: ऐसा पूछा जाता है कि "आपकी आयु कितनी है ?" (यहाँ पर 'आपकी' से मतलब शरीर और जीव दोनों की आयु की बात समझनी चाहिये।) शरीर की आयु ४०, ५० वर्ष की कही जाती है और जीव अस्तिरूप से अनादि-अनन्त है। जहाँ यह कहा जाता है कि—'यह मुझ से पाँच वर्ष छोटा है या पाँच वर्ष बड़ा है' वहाँ शरीर के कद की अपेक्षा से छोटा बड़ा नहीं होता किन्तु काल की अपेक्षा से छोटा-बड़ा कहा जाता है। यदि कालद्रव्य की अपेक्षा न रहे तो यह नहीं कहा जा सकता कि यह छोटा है, यह बड़ा है, यह बालक है, यह युवान है, यह वृद्ध है। जो नई पुरानी अवस्थायें बदलती रहती हैं, उनसे कालद्रव्य का अस्तित्व निश्चित होता है।

कभी तो जीव और शरीर स्थिर होते हैं और कभी गमन करते हैं। वे स्थिर होने और गमन

करने की दशा में दोनों समय आकाश में ही होते हैं, इसलिये आकाश को लेकर उनका गमन अथवा स्थिर रहना निश्चित नहीं हो सकता। गमनरूप दशा और स्थिर रहने की दशा इन दोनों को भिन्न-भिन्न जानने के लिये उन दोनों अवस्था में भिन्न-भिन्न निमित्तरूप दो द्रव्यों को जानना होगा। धर्मद्रव्य के निमित्त से जीव-पुद्गल का गमन जाना जा सकता है, और अधर्म के निमित्त से जीव पुद्गल की स्थिरता जानी जा सकती है। यदि यह धर्म और अधर्मद्रव्य न हों तो गमन और स्थिरता के भेद नहीं जाना जा सकते।

धर्म, अधर्मद्रव्य, जीव और पुद्गलों को गति अथवा स्थिति करने में वास्तव में सहायक नहीं होते। एक द्रव्य के भाव को अन्य द्रव्य की अपेक्षा के बिना पहचाना नहीं जा सकता। जीव के भाव को पहचानने के लिये अजीव की अपेक्षा होती है। जो जानता है सो जीव है—ऐसा कहते ही यह बात स्वत: आ जाती है कि जो ज्ञातृत्व से रहित हैं, वे द्रव्य जीव नहीं हैं, और इस प्रकार अजीव की अपेक्षा आ जाती है। जीव अमुक स्थान पर है—ऐसा कहते ही आकाश की अपेक्षा आ जाती है। इसी प्रकार छहों द्रव्यों के सम्बन्ध में परस्पर समझ लेना चाहिये। एक आत्मद्रव्य का निर्णय करने पर छहों द्रव्य ज्ञात हो जाते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि यह ज्ञान की विशालता है और ज्ञान का स्वभाव सर्व द्रव्यों को जान लेना है। एक द्रव्य के सिद्ध करने पर छह द्रव्य सिद्ध हो जाते हैं, इसमें द्रव्य की पराधीनता नहीं है किन्तु ज्ञान की महिमा है। जो पदार्थ है, वह ज्ञान में अवश्य ज्ञात होता है, जितना पूर्ण ज्ञान में ज्ञात होता है, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी इस जगत में नहीं है। पूर्ण ज्ञान में छहों द्रव्य ज्ञात हुये हैं, उनसे अधिक अन्य कुछ नहीं है।

कर्मों को लेकर छह द्रव्यों की सिद्धि

कर्म, पुद्गल की अवस्था हैं, वे जीव के विकारी भाव के निमित्त से रह रहे हैं। कुछ कर्म बंधरूप में स्थित हुआ, तब उसमें अधर्मास्तिकाय का निमित्त है, प्रतिक्षण कर्म उदय में आकर खिर जाते हैं, उनके खिर जाने पर जो क्षेत्रान्तर होता है, उसमें उसके धर्मास्तिकाय का निमित्त है, कर्म की स्थिति के सम्बन्ध में कहा जाता है कि यह सत्तर कोडाकोडा का कर्म है अथवा अन्तर मुहूर्त का कर्म है, इसमें कालद्रव्य की अपेक्षा है, अनेक कर्म परमाणुओं के एक क्षेत्र में रहने में आकाशद्रव्य की अपेक्षा है। इस प्रकार छह द्रव्य सिद्ध हुये।

द्रव्यों की स्वतंत्रता

उपरोक्त कथन से यह सिद्ध होता है कि जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्य (कर्म) दोनों बिल्कुल

विभिन्न वस्तु हैं, यह दोनों अपने आप में स्वतंत्र हैं। कोई एक दूसरे का कुछ भी नहीं करता। यदि जीव और कर्म एकत्रित हो जायें तो इस जगत में छह द्रव्य ही नहीं रह सकेंगे। जीव और कर्म सदा भिन्न ही हैं। द्रव्यों का स्वभाव अनादि-अनन्त स्थिर रहते हुये भी प्रतिसमय बदलने का है। समस्त द्रव्य अपनी शक्ति से स्वतंत्रतया अनादि-अनन्त स्थिर रहकर स्वयं ही अपनी पर्याय को बदलते हैं। जीव की पर्याय को जीव बदलते हैं और पुद्गल की पर्याय को पुद्गल बदलते हैं। जीव न तो पुद्गल का कुछ करते हैं और न पुद्गल जीव का ही कुछ करते हैं।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य

द्रव्य का कोई कर्ता नहीं है। यदि कोई कर्ता है तो उसने द्रव्यों को कैसे बनाया? किससे बनाया? वह स्वयं किसका कर्ता बना? जगत में छह द्रव्य अपने स्वभाव से ही हैं, उनका कोई कर्ता नहीं है। किसी भी नवीन पदार्थ की उत्पत्ति होती ही नहीं है। किसी भी प्रयोग के द्वारा नये जीव की अथवा नये परमाणु की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जो पदार्थ होता है, वही रूपान्तरित होता है। जो द्रव्य है, वह कभी नष्ट नहीं होता, और जो द्रव्य नहीं है, वह कभी उत्पन्न नहीं होता, हाँ; जो द्रव्य है, वह प्रतिक्षण अपनी पर्याय को बदलता रहता है, ऐसा नियम है। इस सिद्धान्त को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य अर्थात् नित्य स्थिर रहकर बदलना (Permanency with a change) कहते हैं।

क्योंकि द्रव्य का कोई बनानेवाला नहीं है, इसलिये कोई सातवां द्रव्य नहीं हो सकता और किसी द्रव्य को कोई नाश करनेवाला नहीं है, इसलिये छह द्रव्यों में से कभी कोई कम नहीं हो सकता, शाश्वत्रूप से छह ही द्रव्य हैं। सर्वज्ञ भगवान ने अपने सम्पूर्ण ज्ञान के द्वारा छह द्रव्यों को जाना है और उन्हीं को अपने उपदेश में दिव्यवाणी के द्वारा कहा है। सर्वज्ञ वीतराग प्रणीत परम सत्यमार्ग के अतिरिक्त इन छह द्रव्यों का यथार्थ स्वरूप अन्यत्र कहीं है ही नहीं।

द्रव्य की शक्ति

द्रव्य की विशेष शक्ति (चिह्न-विशेष गुण) के सम्बन्ध में पहले संक्षेप में कहा जा चुका है। एक द्रव्य की जो विशेष शक्ति होती है, वह अन्य द्रव्यों में नहीं होती; इसलिये विशेष शक्ति के द्वारा द्रव्य के स्वरूप को पहचाना जा सकता है। जैसे-ज्ञान, जीवद्रव्य की विशेष शक्ति है; जीव के अतिरिक्त अन्य किसी भी द्रव्य में ज्ञान नहीं है, इसलिये ज्ञानशक्ति के द्वारा जीव पहचाना जाता है।

अब यहाँ द्रव्यों की सामान्य शक्ति के सम्बन्ध में कुछ कहा जाता है। जो शक्ति सभी द्रव्यों

में होती है, उसे सामान्य शक्ति (सामान्य गुण) कहते हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व और प्रदेशत्व, यह छहों सामान्य गुण मुख्य हैं, वे सभी द्रव्य में हैं।

(१) अस्तित्वगुण के कारण द्रव्य के अस्तित्व का कभी नाश नहीं होता। द्रव्य अमुक काल के लिये हैं और उसके बाद नष्ट हो जाते हैं—ऐसी बात नहीं है। द्रव्य नित्य स्थिर रहनेवाले हैं। यदि अस्तित्वगुण न हो तो वस्तु नहीं रह सकती, और यदि वस्तु ही न हो तो फिर किसे समझाना है?

(२) वस्तुत्वगुण के कारण द्रव्य अपना प्रयोजनभूत कार्य करता है। द्रव्य स्वयं अपने गुण पर्यायों का प्रयोजनभूतकार्य करते हैं। एक द्रव्य दूसरे अन्य द्रव्य का कोई भी कार्य नहीं कर सकता।

(३) द्रव्यत्वगुण के कारण द्रव्य निरंतर एक अवस्था में से दूसरी अवस्था में द्रवित होता रहता है—परिणमन करता रहता है। द्रव्य त्रिकाल अस्तिरूप होने पर भी, सदा एक सा (कूटस्थ) नहीं है परन्तु निरंतर नित्य बदलने वाला-परिणामी है। यदि द्रव्य में परिणमन न हो तो जीव के संसारदशा का नाश होकर मोक्षदशा की उत्पत्ति कैसे हो? शरीर की बाल्यावस्था में से युवावस्था कैसे हो? छहों द्रव्यों में द्रव्यत्व शक्ति होने से सभी स्वतंत्ररूप से अपनी-अपनी पर्याय में परिणमन करने के लिये दूसरे द्रव्य की सहायता अथवा असर की अपेक्षा नहीं रखता।

(४) प्रमेयत्वगुण के कारण द्रव्य ज्ञान में प्रतीत होते हैं। छहों द्रव्य में प्रमेय शक्ति होने से ज्ञान छहों द्रव्य के स्वरूप का निर्णय कर सकता है। यदि वस्तु में प्रमेयत्वगुण न हो तो वह अपने को यह कैसे बता सकेगी कि 'यह वस्तु है?' जगत का कोई भी पदार्थ ज्ञान के द्वारा अगम्य नहीं है। आत्मा में प्रमेयत्वगुण होने से आत्मा स्वयं अपने को जान सकता है।

(५) अगुरुलघुत्वगुण के कारण प्रत्येक वस्तु निज स्वरूप में ही स्थिर रहती है। जीव बदलकर कभी परमाणु नहीं हो जाता और परमाणु बदलकर कभी जीवरूप नहीं हो जाता। जड़ सदा जड़रूप में और चेतन सदा चेतनरूप में रहता है। ज्ञान की प्रगटता विकारदशा में चाहे जितनी कम हो, तथापि ऐसा कभी नहीं हो सकता कि जीवद्रव्य बिल्कुल ज्ञानहीन हो जाय। इस शक्ति के कारण द्रव्य के गुण छिन्न-भिन्न नहीं हो जाते, तथा कोई दो वस्तुयें एकरूप होकर तीसरी नई प्रकार की वस्तु उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि वस्तु का स्वरूप कदापि अन्यथा नहीं होता।

(६) प्रदेशत्वगुण के कारण प्रत्येक द्रव्य के अपना आकार होता है। प्रत्येक द्रव्य अपने अपने निज आकार में ही रहता है। सिद्धदशा के होने पर एक जीव दूसरे जीव में मिल नहीं जाता किन्तु प्रत्येक जीव अपने प्रदेशाकार स्वतंत्ररूप से स्थिर रहता है।

यह छह सामान्य गुण मुख्य हैं, इनके अतिरिक्त अन्य सामान्य गुण भी हैं। इसप्रकार गुणों के द्वारा द्रव्य का स्वरूप अधिक स्पष्टता से जाना जाता है।

प्रयोजनभूत

इसप्रकार छह द्रव्य के स्वरूप का अनेक प्रकार वर्णन किया है। इन छह द्रव्यों में प्रति समय परिणमन होता रहता है, जिसे पर्याय (अवस्था, हालत, condition) कहते हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार द्रव्यों की पर्याय तो सदा शुद्ध ही है, शेष जीव और पुद्गलद्रव्यों में शुद्धपर्याय होती है और अशुद्धपर्याय भी हो सकती है।

जीव और पुद्गलद्रव्यों में से पुद्गलद्रव्य में ज्ञान नहीं है, उसमें ज्ञातृत्व नहीं है और इसलिये उसमें ज्ञान की विपरीतरूप भूल नहीं है, इसलिये पुद्गल के सुख अथवा दुःख नहीं होता। सच्चे ज्ञान से सुख और विपरीत ज्ञान से दुःख होता है, परन्तु पुद्गलद्रव्य में ज्ञानगुण ही नहीं है, इसलिये उसके सुख-दुःख नहीं होता, उसमें सुखगुण ही नहीं है। ऐसा होने से पुद्गलद्रव्य के अशुद्धदशा हो या शुद्धदशा हो, दोनों समान हैं। शरीर पुद्गलद्रव्य की अवस्था है, इसलिये शरीर में सुख-दुःख नहीं होते। शरीर निरोगी हो अथवा रोगी हो, उसके साथ सुख-दुःख का सम्बन्ध नहीं है।

अवशेष रहा ज्ञाता जीव

छह द्रव्यों में यह एक ही जीवद्रव्य ज्ञानशक्तिवाला है। जीव में ज्ञानगुण है और ज्ञान का फल सुख है। जीव में सुख गुण है। यदि यथार्थ ज्ञान करे तो सुख हो, परन्तु जीव अपने ज्ञानस्वभाव को नहीं पहचानता और ज्ञान से भिन्न अन्य वस्तुओं में सुख की कल्पना करता है, यह उसके ज्ञान की भूल है और उस भूल के कारण ही जीव के दुःख है। अज्ञान जीव की अशुद्धपर्याय है। जीव की अशुद्धपर्याय दुःखरूप है, इसलिये उस दशा को दूर करके सच्चे ज्ञान के द्वारा शुद्धदशा प्रगट करने का उपाय समझाया जाता है। सभी जीव सुख चाहते हैं और सुख जीव की शुद्धदशा में ही है; इसलिये जिन छह द्रव्यों को जाना है, उनमें से जीव के अतिरिक्त पाँच द्रव्यों के गुण-पर्याय के साथ जीव का कोई प्रयोजन नहीं है, किन्तु अपने गुण-पर्याय के साथ ही प्रयोजन है।

प्रत्येक जीव अपने लिये सुख चाहता है अर्थात् अशुद्धता को दूर करना चाहता है। जो मात्र शास्त्रों को पढ़कर अपने को ज्ञानी मानता है, वह ज्ञानी नहीं है किन्तु जो परद्रव्यों से भिन्न अपने आत्मा को पुण्य-पाप की क्षणिक अशुद्ध वृत्तियों से भिन्नरूप में यथार्थतया जानता है, वही ज्ञानी है।

कोई परवस्तु आत्मा को हानि-लाभ नहीं पहुँचाती। अपनी अवस्था में अपने ज्ञान की भूल से ही दु:खी था। अपने स्वभाव की समझ के द्वारा उस भूल को स्वयं दूर के तो दु:ख दूर होकर सुख होता है। जो यथार्थ समझ के द्वारा भूल को दूर करता है, वह सम्यग्दृष्टि ज्ञानी, सुखी, धर्मात्मा है। जो यथार्थ समझ के बाद उस समझ के बल से आंशिक राग को दूर करके स्वरूप की एकाग्रता को क्रमश: साधता है, वह श्रावक है। जो विशेष राग को दूर करके, सर्व संग का परित्याग करके स्वरूप की रमणता में बारम्बार लीन होता है, वह मुनि-साधु है और जो सम्पूर्ण स्वरूप की स्थिरता करके, सम्पूर्ण राग को दूर करके शुद्धदशा को प्रकट करते हैं, वे सर्वज्ञदेव-केवली भगवान हैं। उनमें से जो शरीरसहितदशा में विद्यमान हैं, वे अरहंतदेव हैं और जो शरीररहित हैं, वे सिद्ध भगवान हैं। अरहंत भगवान ने दिव्यध्वनि में जो वस्तु स्वरूप दिखाया है, उसे 'श्रुत' कहते हैं।

इनमें से अरिहंत और सिद्ध, देव है; साधक, संत मुनि, गुरु हैं और श्रुत का उपदेश, शास्त्र है। जो इन सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को यथार्थतया पहचानता है, उसकी गृहीत मिथ्यात्वरूपी महा भूल दूर हो जाती है। यदि देव-गुरु-शास्त्र के स्वरूप को जानकर अपने आत्मस्वरूप का निर्णय करे तो अनन्त संसार का कारण-सर्वाधिक महा पापरूप अगृहीत मिथ्यात्व दूर हो जाय और सम्यग्दर्शनरूपी अपूर्व आत्मधर्म प्रकट हो।

सच्चे देव के स्वरूप में मोक्षतत्त्व का समावेश होता है; संत-मुनि के स्वरूप में संवर और निर्जरातत्त्व का समावेश होता है। जैसा सच्चे देव का स्वरूप है, वैसा ही शुद्ध जीवतत्त्व का स्वरूप है। कुगुरु, कुदेव, कुधर्म में अजीव, आश्रव, तथा बंधतत्त्व का समावेश होता है। अरिहंत-सिद्ध के समान शुद्धस्वरूप ही जीव का स्वभाव है, और स्वभाव ही धर्म है। इस प्रकार सच्चे देव, गुरु, धर्म के स्वरूप को भलीभाँति जान लेने पर उसमें सात तत्त्वों के स्वरूप का ज्ञान भी आ जाता है।

जिज्ञासुओं का कर्तव्य

उपरोक्त तत्त्व स्वरूप को यदि रागमिश्रित ज्ञान से जाने तो उसके गृहीत मिथ्यात्व का पाप दूर हो जाय और राग को दूर करके आत्मा के लक्ष्य से ज्ञान करके यह निर्णय करे तो सम्यग्ज्ञान हो और अगृहीत मिथ्यात्व का सर्वोपरि पाप दूर हो जाय, यही अपूर्व सम्यग्दर्शनरूपी धर्म है, इसलिये जिज्ञासु जीवों को प्रथम भूमिका से ही यथार्थ समझ के द्वारा गृहीत और अगृहीत मिथ्यात्व को नाश करने का निरंतर प्रयत्न करना चाहिये और उसका नाश, सच्चे ज्ञान के द्वारा ही होता है, इसलिये निरंतर सच्चे ज्ञान का अभ्यास करना चाहिये। ●●●

सम्यग्दर्शन गुण है या पर्याय ?

(१) सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र की एकता मोक्षमार्ग है। इनमें से सम्यग्दर्शन भी मोक्षमार्गरूप है। मोक्षमार्ग, पर्याय है; गुण नहीं। यदि मोक्षमार्ग गुण हो तो वह समस्त जीवों में सदा रहना चाहिये। गुण का न तो कभी नाश हो और न कभी उत्पत्ति ही होती है; मोक्षमार्ग, पर्याय है; इसलिये उसको उत्पत्ति होती है और मोक्षदशा के प्रगट होने पर उस मोक्षमार्ग का व्यय हो जाता है।

(२) बहुत से लोग सम्यग्दर्शन को त्रैकालिक गुण मानते हैं परन्तु सम्यग्दर्शन तो आत्मा के त्रैकालिक श्रद्धागुण की निर्मल पर्याय है, गुण नहीं है।

(३) गुण की परिभाषा यह है कि —'जो द्रव्य के सम्पूर्ण भाग में और उसकी सभी अवस्थाओं में व्याप्त रहता है, वह गुण है।' यदि सम्यग्दर्शन गुण हो तो वह आत्मा की समस्त अवस्थाओं में रहना चाहिये, परन्तु यह तो स्पष्ट है कि सम्यग्दर्शन आत्मा की मिथ्यात्वदशा में नहीं रहता, इससे सिद्ध है कि सम्यग्दर्शन गुण नहीं किन्तु पर्याय है।

(४) जो गुण होता है, वह त्रिकाल होता है और जो पर्याय होती है, वह नई प्रगट होती है। गुण नया प्रगट नहीं होता किन्तु पर्याय प्रगट होती है। सम्यग्दर्शन नया प्रगट होता है, इसलिये वह गुण नहीं किन्तु पर्याय है। पर्याय का लक्षण उत्पाद-व्यय है और गुण का लक्षण ध्रौव्य है।

(५) यदि सम्यग्दर्शन स्वयं गुण हो तो उस गुण की पर्याय क्या है ? 'श्रद्धा' नामक गुण है और सम्यग्दर्शन (सम्यक्श्रद्धा) तथा मिथ्यादर्शन (मिथ्याश्रद्धा) दोनों उसकी पर्याय हैं। सम्यग्दर्शन, शुद्ध पर्याय है और मिथ्यादर्शन, अशुद्ध पर्याय है।

(६) **प्रश्न**—यदि सम्यग्दर्शन को पर्याय माना जाय तो उसकी महिमा समाप्त हो जायगी, क्योंकि पर्याय तो क्षणिक होती है और पर्यायदृष्टि को शास्त्र में मिथ्यात्व कहा है।

उत्तर—सम्यग्दर्शन को पर्याय मानने से उसकी महिमा को कोई आंच नहीं आ सकती। केवलज्ञान भी पर्याय है, और सिद्धत्व भी पर्याय है। जो जैसी है, वैसी ही पर्याय को पर्यायरूप में जानने से उसकी यथार्थ महिमा बढ़ती है। यद्यपि सम्यग्दर्शन-पर्याय क्षणिक है किन्तु उस सम्यग्दर्शन का कार्य क्या है ? सम्यग्दर्शन का कार्य अखंड त्रैकालिक द्रव्य का स्वीकार करना है, अर्थात् सम्यग्दर्शन त्रैकालिक द्रव्य की प्रतीत करता है और वह पर्याय त्रैकालिक द्रव्य के साथ एकाकार होती है, इसलिये उसकी अपार महिमा है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन को पर्याय मानने से

उसकी महिमा समाप्त नहीं हो जाती। किसी वस्तु के काल को लेकर उसकी महिमा नहीं है, किन्तु उसके भाव को लेकर उसकी महिमा है। और फिर यह भी सच ही है कि पर्यायदृष्टि को शास्त्र में मिथ्यात्व कहा है। परन्तु साथ ही यह जान लेना चाहिये कि पर्यायदृष्टि का अर्थ क्या है? सम्यग्दर्शन पर्याय है और पर्याय को पर्याय के रूप में जानना पर्यायदृष्टि नहीं है। द्रव्य को द्रव्य के रूप में और पर्याय को पर्याय के रूप में जानना सम्यग्ज्ञान का काम है। यदि पर्याय को ही द्रव्य मान ले अर्थात् एक पर्याय जितना ही समस्त द्रव्य को मान ले तो उस पर्याय के लक्ष्य में ही अटक जायगा-पर्याय के लक्ष्य से हटकर द्रव्य का लक्ष्य नहीं कर सकेगा, इसी का नाम पर्यायदृष्टि है। सम्यग्दर्शन को पर्याय के रूप में जानना चाहिये। श्रद्धागुण तो आत्मा के साथ त्रिकाल रहता है; इसप्रकार द्रव्य-गुण को त्रिकाल रूप जानकर उसकी प्रतीत करना, सो द्रव्यदृष्टि है और यही सम्यग्दर्शन है।

(७) जो जीव, सम्यग्दर्शन को गुण मानते हैं, वे सम्यग्दर्शन को प्रगट करने का पुरुषार्थ क्यों करेंगे? क्योंकि गुण तो त्रिकाल रहनेवाला है; इसलिये कोई जीव सम्यग्दर्शन को प्रगट करने का पुरुषार्थ नहीं करेगा और इसीलिये उसे कदापि सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होगा तथा मिथ्यात्व दूर नहीं होगा। यदि सम्यग्दर्शन को पर्याय के रूप में जाने तो नई पर्याय को प्रगट करने का पुरुषार्थ करेगा। जो पर्याय होती है, वह त्रैकालिक गुण के आश्रय से होती है और गुण, द्रव्य के साथ एकरूप होता है। अर्थात् सम्यग्दर्शन-पर्याय, श्रद्धागुण में से प्रगट होती है और श्रद्धागुण, आत्मा के साथ त्रिकाल है, इस प्रकार त्रिकाल द्रव्य के लक्ष्य से सम्यग्दर्शन का पुरुषार्थ प्रगट होता है। जिसने सम्यग्दर्शन को गुण ही मान लिया है, उसे कोई पुरुषार्थ करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। सम्यग्दर्शन नवीन प्रगट होनेवाली निर्मल पर्याय है, जो इसे नहीं मानता, वह वास्तव में अपनी निर्मल पर्याय को प्रगट करनेवाले पुरुषार्थ को ही नहीं मानता।

(८) शास्त्र में पाँच भावों का वर्णन करते हुये औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव के भेदों में सम्यग्दर्शन को गिनाया है। यह औपशमिकादिक तीनों भाव, पर्यायरूप हैं; इसलिये सम्यग्दर्शन भी पर्यायरूप ही है। यदि सम्यग्दर्शन गुण हो तो गुण को औपशमिकादि की अपेक्षा लागू नहीं हो सकती और इसलिये औपशमिक 'सम्यग्दर्शन' इत्यादि भेद भी नहीं बन सकेंगे। क्योंकि सम्यग्दर्शन गुण नहीं, पर्याय है; इसलिये उसे औपशमिकभाव इत्यादि की अपेक्षा लागू पड़ती है।

(९) शास्त्रों में कहीं-कहीं अभेदनय की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन को आत्मा कहा गया है, इसका कारण यह है कि वहाँ द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद का लक्ष्य और विकल्प छुड़ाकर अभेद द्रव्य का लक्ष्य कराने का प्रयोजन है। द्रव्यार्थिकनय से द्रव्य-गुण-पर्याय में भेद नहीं है, इसलिये इस नय से तो द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों द्रव्य ही हैं। किन्तु जब पर्यायार्थिक नय से द्रव्य-गुण-पर्याय के भिन्न-भिन्न स्वरूप का विचार करना होता है, तब जो द्रव्य है, वह गुण नहीं और गुण है, वह पर्याय नहीं होती, क्योंकि इन तीनों के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं। द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप को जैसा का तैसा जानने के बाद उसके भेद का विकल्प तोड़कर अभेद आत्म-स्वभाव में उन्मुख होने पर मात्र अभेद द्रव्य ही अनुभव में आता है—यह बताने के लिये शास्त्र में द्रव्य-गुण-पर्याय को अभिन्न कहा गया है। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि सम्यग्दर्शन त्रैकालिक द्रव्य अथवा गुण है, किन्तु सम्यग्दर्शन पर्याय ही है।

(१०) सम्यग्दर्शन को कहीं-कहीं गुण भी कहा जाता है, किन्तु वास्तव में तो वह श्रद्धा-गुण की निर्मल पर्याय है, किन्तु जैसे गुण त्रिकाल निर्मल है, वैसी ही उसकी वर्तमान पर्याय भी निर्मल हो जाने से—अर्थात् निर्मल पर्याय, गुण के साथ अभेद हो जाने से अभेदनय की अपेक्षा से उस पर्याय को भी गुण कहा जाता है।

(११) श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने प्रवचनसार में चारित्राधिकार की ४२ वीं गाथा की टीका में सम्यग्दर्शन को स्पष्टतया पर्याय कहा है। (देखो, पृष्ठ ३३५) तथा उसी में ज्ञानाधिकार की ८ वीं गाथा की टीका में श्री जयसेनाचार्य ने बारम्बार 'सम्यक्त्व पर्याय' शब्द का प्रयोग करके यह स्पष्ट कर दिया है कि सम्यग्दर्शन पर्याय है। (देखो, पृष्ठ १३६-१३७-१३८)

(१२) यह ऊपर बताया जा चुका है कि सम्यग्दर्शन, श्रद्धागुण की निर्मल पर्याय है। 'श्रद्धा' गुण को 'सम्यक्त्व' गुण के नाम से भी पहचाना जाता है। इसलिये पंचाध्यायी (अध्याय २ गाथा ९४५) में सम्यक्त्व को त्रैकालिकगुण कहा है, वहाँ सम्यक्त्वगुण को श्रद्धागुण ही समझना चाहिये। इसप्रकार सम्यक्त्व को गुण के रूप में जानना चाहिये। सम्यक्त्व गुण की निर्मल पर्याय सम्यग्दर्शन है। कहीं-कहीं सम्यग्दर्शन पर्याय को भी 'सम्यक्त्व' कहा गया है।

(१३) सम्यक्त्व-श्रद्धागुण की दो प्रकार की पर्यायें हैं। एक सम्यग्दर्शन दूसरी मिथ्यादर्शन। जीवों के अनादिकाल से सम्यक्त्वगुण की पर्याय मिथ्यात्वरूप होती है। अपने पुरुषार्थ के द्वारा भव्य जीव उस मिथ्यात्वपर्याय को दूर करके सम्यक्त्वपर्याय को प्रगट कर सकते

हैं। सम्यग्दर्शन पर्याय के प्रगट होने पर, गुण-पर्याय की अभेद विवक्षा से यह भी कहा जाता है कि 'सम्यक्त्व गुण प्रगट हुआ है।' जैसे शुद्ध त्रैकालिक गुण है, वैसी ही शुद्ध पर्यायें सिद्धदशा में प्रगट होती हैं, इसलिये सिद्ध भगवान के सम्यक्त्व इत्यादि आठ गुण होते हैं—ऐसा कहा जाता है। द्रव्य-गुण-पर्याय की भेद दृष्टि से देखने पर यह समझना चाहिये कि वास्तव में वे सम्यक्त्वादिक आठ गुण नहीं किन्तु पर्याय हैं।

(१४) श्रद्धागुण की निर्मलपर्याय सम्यग्दर्शन है, यह व्याख्या गुण और पर्याय के स्वरूप का भेद समझने के लिये है। गुण त्रैकालिक शक्तिरूप होता है और पर्याय प्रति समय व्यक्तिरूप होती है। गुण से कार्य नहीं होता किन्तु पर्याय से होता है। पर्याय प्रति समय बदलती रहती है; इसलिये प्रति समय नई पर्याय का उत्पाद और पुरानी पर्याय का व्यय होता ही रहता है। जब श्रद्धा-गुण की क्षायिक पर्याय (क्षायिक सम्यग्दर्शन) प्रगट होती है, तब से अनन्त काल तक वह वैसी ही रहती है। तथापि प्रति समय नई पर्याय की उत्पत्ति और पुरानी पर्याय का व्यय होता ही रहता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन, श्रद्धागुण की एक ही समयमात्र की निर्मल पर्याय है।

(१५) श्री उमास्वामी आचार्य ने तत्त्वार्थसूत्र के पहले अध्याय के दूसरे सूत्र में कहा है—''तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यक्दर्शनं'' यहाँ 'श्रद्धान' श्रद्धागुण की पर्याय है; इस प्रकार सम्यक्दर्शन पर्याय को अभेदनय से श्रद्धा भी कहा जाता है।

श्री समयसारजी की १५५ वीं गाथा में श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने कहा है कि—''जीवादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं'' यहाँ भी 'श्रद्धान' श्रद्धागुण की पर्याय है-ऐसा समझना चाहिये।

(१६) उपरोक्त कथन से सिद्ध हुआ कि सम्यक्दर्शन, श्रद्धागुण की (सम्यक्त्वगुण की) एक समयमात्र की पर्याय ही है, और ज्ञानीजन किसी समय अभेदनय की अपेक्षा से उसे 'सम्यक्त्वगुण' के रूप में अथवा आत्मा के रूप में बतलाते हैं।

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दास कुंज, मोटा आंकडिया ता.३१-८-४७
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया, काठियावाड